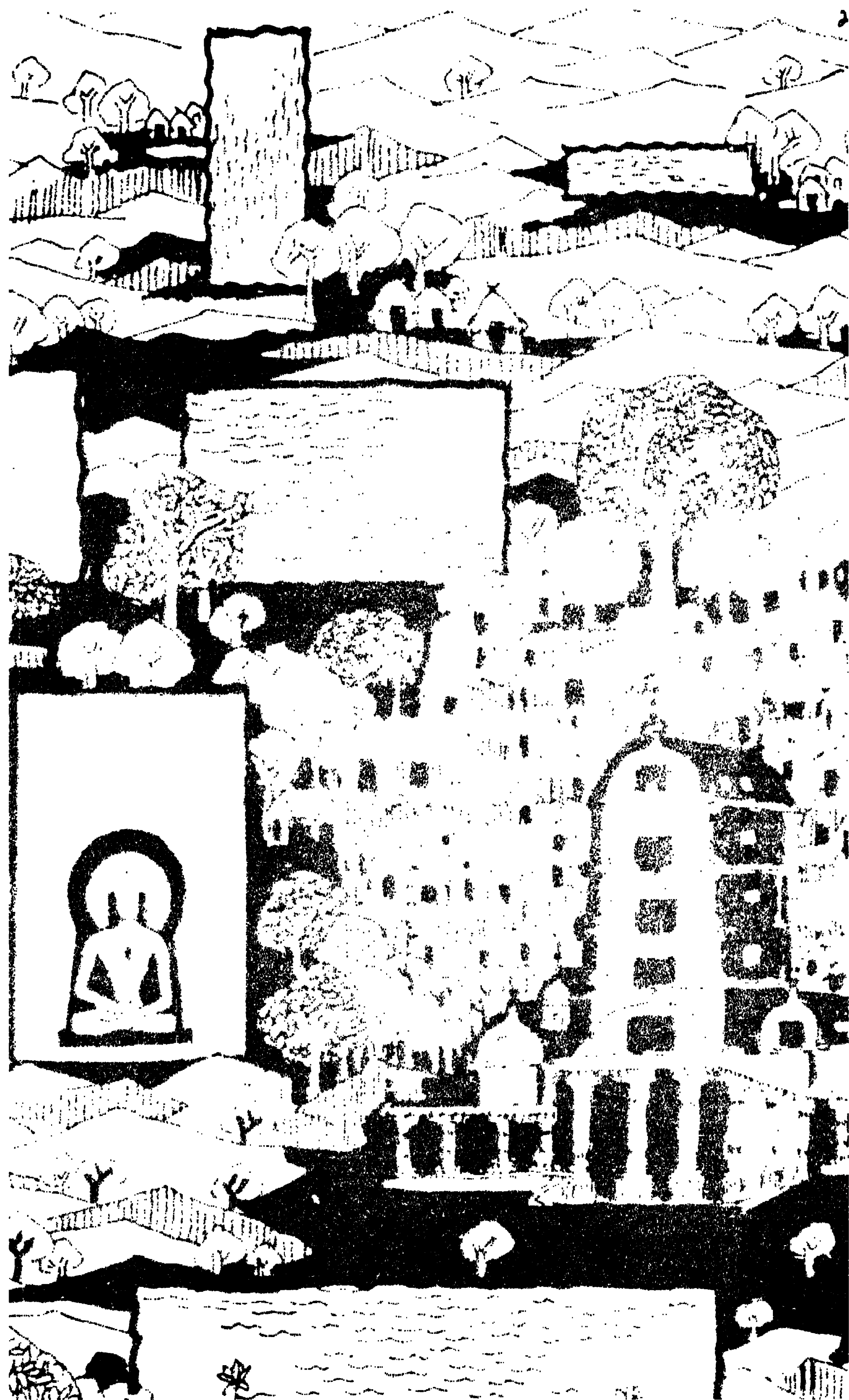




तीर्थंकर वर्धमान महावीर

(भगवान् महावीर के जीवन-सम्बन्धी तथ्यों को सप्रमाण प्रस्तुत
करनेवाला एक अद्वितीय उत्कृष्ट संदर्भ ग्रन्थ

(मुनिश्री विद्यानन्दजी के निर्देशन में सम्पन्न)

पं. पद्मचन्द्र शास्त्री, एम. ए.

श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ-प्रकाशन समिति, इन्दौर
१९७४

प्रकाशक
श्री वीर निर्वाण-ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति,
४८, सीतलामाता बाजार,
इन्दौर ४५२-००२, मध्यप्रदेश

सप्तम पुष्प
प्रथम आवृत्ति
वीर निर्वाण संवत् २५००
जून, १९७४

मूल्य : आठ रुपये

मुद्रक : नई दुनिया प्रेस, इन्दौर



"तीर्थंकर वर्धमान महावीर" श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन-समिति, इन्दौर का सप्तम पुष्प है। इसे पूज्य मुनिश्री विद्यानन्दजी की प्रेरणा से प्राकृत और जैन दर्शन के मर्मज्ञ पंडित श्री पद्मचन्द्र शास्त्री ने बड़े परिश्रम और पुरुषार्थ से तैयार किया है। इसके द्वारा पहली बार भगवान् महावीर का एक निर्विवाद और सर्वसमर्थित व्यक्तित्व प्रकाश में आ रहा है। लेखक ने कतिपय नये तथ्यों को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है केवल इतना ही नहीं अपितु विद्वान् ग्रन्थकार ने जैनधर्म की अति प्राचीनता के तथ्य को भी बड़े इतिहास-सम्मत ढंग से प्रस्तुत किया है। इस तरह उसे भ्रान्तियों को दूर करने का श्रेय तो है ही, कीर्ति का यह सेहरा भी उसके सर बंध रहा है कि उक्त कृति के द्वारा जैनधर्म और भगवान् महावीर की एक अबाध, शुद्ध और प्रभावशाली प्रतिमा प्रतिष्ठित हुई है।

लेखक ने जिस क्रम से तथ्यों को प्रतिपादित किया है, माना, वह किंचित् पौराणिक शैली पर है, किन्तु उसकी अधुनातनता को भी किसी प्रकार अस्वीकार करना संभव नहीं है। इससे पाठक इतिहास की परम्परा से मूलबद्ध रह कर भी भगवान् महावीर के जीवन-तथ्यों में अधुनातन संदर्भों को प्रतिच्छायित देख सकता है। पंडितजी ने ग्रन्थ में अब तक प्राप्त और ज्ञात शोध-परिणामों का उपयोग किया है और ग्रन्थ को एक अधिकृत आलेख बनाने का प्रयत्न किया है। एक माने में यह ग्रन्थ अन्य ग्रन्थों से भिन्न है, क्योंकि इसमें इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि वही कहा जाए जो प्रामाणिक और तर्कसंगत हो। इस तरह यह कहानी, उपन्यास, या नाटक न होकर जैनधर्म का एक अधिकृत आलेख बन कर प्रकाश में आ रहा है। हो सकता है कि कुछ पाठकों को इसमें रोचकता की अनुपस्थिति का बोध हो, किन्तु इसकी जो ज्ञान-गरिमा है उससे किसी भी समाज का मस्तक गौरव से ऊँचा उठ सकता है।

विद्वान् ग्रन्थकार ने इसके द्वारा न केवल भगवान् महावीर के महिमावान् व्यक्तित्व को ही प्रस्तुत किया है, वरन् उनकी विभिन्न जीवन-संधियों में से जैनधर्म के मूलभूत सिद्धान्तों की भी एक विस्तृत, प्रामाणिक, सुबोध और शास्त्रोक्त संकलिका हमारे सामने रख दी है। देशना का भाग इसी तरह का समीक्षात्मक संकलन है। ग्रन्थ में कुछ दुर्लभ प्राचीन चित्र भी दिये हैं, जो जैनधर्म की प्राचीनता पर अधिकृत प्रकाश डालते हैं। इन चित्रों ने ग्रन्थ को छबिमान तो किया ही है, उपयोगी भी बनाया है। परिशिष्ट में स्याद्वाद और अनेकान्तवाद पर जैनेतर विद्वानों के अभिमत संकलित किये गये हैं। इनमें भी जैनधर्म की एक गौरवशालिनी "इमेज" हमारे सामने आ उपस्थित होती है। कुल मिला कर पंडितजी ने सत्संग और शुभाशीष का पूरा-पूरा लाभ उठाया है और २५००वें वीर-निर्वाणोत्सव की मंगल अवधि में इसे लिख कर एक उल्लेखनीय पुण्यार्जन किया है। हमें विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थ व्यापक रूप में पढ़ा जाएगा और इसके माध्यम से जैनदर्शन और उसकी मान्यताओं को अधिक सम्यक् परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयास होगा।

अन्त में हम विद्वान् लेखक, तथा उन समस्त संस्थाओं का आभार मानते हैं जिन्होंने इसके विभिन्न संस्करणों को प्रकाश में लाने में हमारी सहायता की है। पूज्य मुनिश्री विद्यानन्दजी की वन्दना शब्दातीत है, क्योंकि वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन-समिति की स्थापना उन्हीं की प्रेरणा का संमूर्तन है। हमें विश्वास है कि उनकी प्रेरणा और शुभाशीर्वाद हमें आगे भी इतना बल-पुरुषार्थ देंगे कि हम समिति के अन्तर्गत इसी प्रकार के और-और उपयोगी प्रकाशन कर सकेंगे।

बाबूलाल पाटोदी
मंत्री

दीपावली, वी. नि. सं. २५००

लेखकीय



प्रस्तुत कृति की पीठिका पर स्पष्टतः परम पूज्य १०८ मुनिश्री विद्यानन्दजी की प्रेरणा भास्वर है। मुझे स्मरण है उन्होंने मुझसे एक बार कहा था—"पंडितजी, पुष्पस्तवक की रचना जितनी सरल है, उस गुलदस्ते के लिए उपयुक्त पुष्पों का चयन उतना ही दुष्कर कार्य है। मेरी इच्छा है कि भगवान् महावीर के पच्चीस सौवें निर्वाणोत्सव के उपलक्ष्य में एक ऐसी अप्रतिम-अद्वितीय प्रामाणिक कृति प्रकाश में आये जो जैनधर्म की अधिकृत विवेचना तो करती ही हो साथ ही उस पर सुसमीक्षित सामग्री भी देती हो। यह कृति मूल में इतनी गरिमावान हो कि इससे मानव-जीवन को सार्थक करने की प्रेरणा मिल सके और संतप्त विश्व को निर्वाण की सच्ची राह दिखलायी जा सके।"

पाठक जानते हैं पूज्य मुनिश्री की उक्त प्रेरणा कितनी बलवती है, वास्तव में उनकी वाणी में गुरुत्व है; वे स्व-पर-कल्याण में अनुक्षण तल्लीन आगे पग बढ़ाते मनीषी महासन्त हैं। वे कर्मयोगी हैं, अविराम आत्महितरत। आत्मकल्याण और विश्व-कल्याण के दो सुमंगल तटों के मध्य उनके तपोनिष्ठ जीवन की ज्योतिर्धारा गतिमान है। वे हजारों-लाखों लोगों के बुझे-बैठे मन में, अंधेरे हृदयों में धर्म की परम ज्योति जगाने में आठों याम लीन हैं। ऐसे मुनिश्रेष्ठ का आदेश मैंने नतशिर स्वीकार किया है और अपनी सीमाओं को जानते हुए भी उनकी शीतल-सुखद छाँव में इसे अबाध लिखता रहा हूँ। इस ग्रन्थ में उनके निर्देश हैं, मेरा परिपालन है। संक्षेप में यही आत्मकथा है इस कृति की। मैं पूज्य मुनिश्री का कृतज्ञ हूँ इस सबके लिए; क्योंकि वस्तुतः जो आभ्यन्तर स्रोत और स्फूर्ति मुझे मिली है, वह सब उनके अनुपम व्यक्तित्व का ही वरदान है। इसलिए यह समग्र कृति उनकी ही है; मैं, या मेरा इसमें कुछ भी नहीं है। दीये का होता भी कब-क्या-कुछ है, वह तो आधार बने रहने में ही अनुगृहीत है।

मेरी यह चिर साध थी कि जैन-वाङ्मय जैसे अतल रत्नाकर से कुछ रत्न प्राप्त कर समाज को अर्पित करूँ, और इस तरह प्रस्तुत कर सकूँ उस रत्नकरण्ड को, कि वह गीता की भाँति व्यापक रूप में पढ़ा जा सके। देशना के प्रस्तुतीकरण में मैंने ऐसा ही प्रयत्न किया है। आशा है, पाठक हंसवृत्ति से काम लेंगे और समझ लेंगे कि नीर किसका है, क्षीर किसका; स्पष्टतः नीर मेरा है, और क्षीर पूज्य मुनिश्री का; भगवान् महावीर का समग्र जीवन क्षीर-सागर है, आप हंस हैं।

बन्धु डॉ. कासलीवाल ने उपयोगार्थ 'मनसुखसागर' की प्रति उपलब्ध की और ज्योतिष-संबंधी सामग्री के समीचीन आकलन में पंडित श्री बाहुबली पार्श्वनाथ शास्त्री ने योग दिया, अतः मैं इन दोनों महानुभावों का हृदय से आभारी हूँ। ब्रह्मचारी श्री हरी ने लेखनोपकरण उपलब्ध करने-कराने में कभी कोई प्रमाद नहीं किया, वे अनुक्षण सावधान और अप्रमत्त बने रहे अतः उनका भी कृतज्ञ हूँ। श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन-समिति, इन्दौर का कृतज्ञ सर्वाधिक इसलिए हूँ कि इसकी मूल प्रेरणा पूज्य मुनिश्री के इन्दौर-वर्षायोग (१९७१ ई.) में हुई और वहीं इसके लेखन का सूत्रपात हुआ। इसका प्रकाशन भी समिति ही कर रही है। दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी की महिमा तो अपरम्पार है ही, वहाँ के सभापति श्री मोहनलालजी काला, मंत्री श्री सोहनलालजी सोगानी तथा सदस्यों ने मुझमें जिस आगरूकता और अप्रमत्त भाव को जीवित रखा, वह प्रस्तुत कृति में स्वतः प्रतिबिम्बित है। श्री महावीरजी से अजस्र जैन वाङ्मय प्रकाशित होता रहता है, यह एक गौरवशालिनी परम्परा है जिसके लिए क्षेत्र के पदाधिकारी साधुवाद के पात्र हैं। मैं इन सभी महानुभावों का किन शब्दों में आभार मानूँ, बड़े असमंजस में हूँ, अतः इतना ही कहूंगा कि मैं सबका चिरऋणी और स्नेहाकांक्षी हूँ।

गांधीनगर, दिल्ली-३१
दीपावली वी. नि. सं. २५००

—पदमचन्द्र शास्त्री

तीर्थङ्कर वर्धमान महावीर



तीर्थंकर वर्धमान महावीर

'तिलोए सव्वजीवाणं हिदं धम्मोवदेसिणं ।
वड्ढमाणं महावीरं वंदेहं सव्ववेदिणं ।।

(मैं तीन लोक के समस्त जीवों को हितकर, धर्मोपदेशदाता सर्वज्ञ, वर्धमान महावीर की वन्दना करता हूँ ।)

जैनधर्म की प्राचीनता

जैनधर्म और उसकी परम्पराएँ प्राचीनतम हैं। अनेक भारतीय विद्वान् इस तथ्य की पुष्टि कर चुके हैं। प्राचीन भारतीय वाङमय में जो सामग्री उपलब्ध है और विभिन्न उत्खननों में भूगर्भ से जो भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं, वे भी इसकी परम्पराओं को वेद-पूर्व सिद्ध करते हैं। वैदिक पद्मपुराण में जैनियों के चौबीस तीर्थंकरों के होने की बात कही गई है। † युगप्रवर्तक तीर्थंकर ऋषभदेव और उनके वाद के तेईस तीर्थंकरों में से कतिपय तीर्थंकरों के नामों का वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में बड़े गौरव के साथ उल्लेख हुआ है। हनुमन्नाटक में वांछित फल-प्राप्ति हेतु जैनों के परमोपास्य अर्हत्-तीर्थंकरों की वन्दना की गई है। आचार्य विनोवा भावे, श्री वाचस्पति गैरोला, स्व. श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' और श्री बुद्धप्रकाश प्रभृति विद्वान् जैनधर्म को अत्यन्त प्राचीन सिद्ध कर चुके हैं।

महाभारत में विष्णु के सहस्रनामों में अनेक जैन तीर्थंकरों के नामों का स्मरण किया गया है। मोहन-जो-दड़ो से प्राप्त सामग्री के आधार पर तीर्थंकरों एवं जैनत्व के प्रभाव की भलीभाँति पुष्टि हो चुकी है। भाषा के आधार पर भी यह स्पष्ट हो चुका है कि भारत की प्राचीन भाषा, और लिपि-ब्राह्मी श्री ऋषभदेव तीर्थंकर की

---

† अस्मिन्वैभारतेवर्षे जन्म वै श्रावके कुले ।
तपसायुक्तमात्मानं केशोत्पाटनपूर्वकम् ।
तीर्थंकराश्चतुर्विंशस्तथा तैस्तु पुरस्कृतम् ।
छायाकृतं फणीन्द्रेण ध्यानमात्र प्रदेशिकम् ।। —वैदिक पद्मपुराण; 5131389-90

'यथा ऋषभोवर्धमानश्च तावादी यस्य स ऋषभ वर्धमानादिः । दिगम्बराणां शास्ता सर्वज्ञ आप्तश्च ।'

—बौद्धग्रन्थ, न्यायबिन्दु टीका 31131

पुत्री ब्राह्मी के नाम से प्रचलित रही है। अधिक क्या कहें? इस देश का प्रचलित नाम भारत श्रीऋषभदेव के पुत्र भरत की देन है—इस देश का नाम उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध है। उक्त कथन के संदर्भ में प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं, जिनका दिग्दर्शन कराना हर किसी के लिए सर्वथा अशक्य है, फिर भी, पाठकों की जानकारी के लिए कुछेक उद्धृत करना अत्यन्त आवश्यक है।

"मोहन-जो-दड़ो से उपलब्ध ध्यानस्थ नग्न योगियों की मूर्तियों से जैनधर्म की अति प्राचीनता सिद्ध होती है। वैदिक-युग में व्रात्यों और श्रमण ज्ञानियों की परम्परा का प्रतिनिधित्व भी जैनधर्म ने ही किया। जैनधर्म के प्रवर्तक महात्माओं को तीर्थंकर कहा जाता है। ज्ञान का प्रवर्तन करनेवाले वीतराग महात्मा ही तीर्थंकर कहलाये। धर्मरूपी तीर्थ का निर्माण करनेवाले ज्ञानमना मुनिजन ही तीर्थंकर थे: 'तरति संसारमहार्णवं येन निमित्तेन तत्तीर्थमिति'।

ये तीर्थंकर महात्मा संख्या में चौबीस हुए। जिनमें सर्वप्रथम ऋषभदेव और अन्तिम महावीर थे। उनका क्रम इस प्रकार है– (१) ऋषभदेव, (२) अजितनाथ, (३) संभवनाथ, (४) अभिनन्दननाथ, (५) सुमतिनाथ, (६) पद्मप्रभु, (७) सुपार्श्वनाथ, (८) चन्द्रप्रभु, (९) सुविधिनाथ (पुष्पदन्त), (१०) शीतलनाथ, (११) श्रेयांसनाथ, (१२) वासुपूज्य, (१३) विमलनाथ, (१४) अनन्तनाथ, (१५) धर्मनाथ, (१६) शान्तिनाथ, (१७) कुन्थुनाथ, (१८) अरहनाथ, (१९) मल्लि, (२०) मुनि सुव्रतनाथ, (२१) नमिनाथ, (२२) नेमिनाथ, (२३) पार्श्वनाथ, (२४) वर्धमान महावीर। ऋग्वेद, अथर्ववेद, गोपथब्राह्मण, भागवत आदि भारतीय साहित्य के प्राचीन, मध्ययुगीन ग्रन्थों में भगवान ऋषभदेव के उल्लेख सर्वत्र बिखरे हुए हैं, जिनसे उनकी अतिप्राचीनता और उनके व्यक्तित्व की महत्ता सिद्ध होती है। इसी प्रकार दूसरे तीर्थंकर भगवान् अरिष्टनेमि भी वैदिक युग के महापुरुष प्रतीत होते हैं।

"महाभारत-कालीन तीर्थंकर नेमिनाथ जैनधर्म के सम्मान्य ऐतिहासिक पुरुष रहे हैं। जैनधर्म के ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ के नाम पर सारनाथ जैसे पवित्र तीर्थ की स्मृति आज भी जीवित है। इन चौबीस तीर्थंकर महात्माओं में अन्तिम पार्श्वनाथ और महावीर ही ऐसे हैं जिनकी ऐतिहासिक जानकारी ठीक रूप में उपलब्ध है।"†

श्री वाचस्पति गैरोला इतिहास-विषय के जाने-माने विद्वान् हैं। उक्त प्रसंग से तीर्थंकर, श्रमण-मुनि और जैनधर्म के काल से संबंधित भारतीय मान्यताएँ प्रकाश में आजाती हैं। प्राचीनतम वैदिक साहित्य और मोहन-जो-दड़ो से उपलब्ध, जैन-सामग्री

† संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, वाचस्पति गैरोला; पृ0 247, चौखम्बा, विद्याभवन, वाराणसी, 1960

को आज विश्व स्वीकार कर रहा है। विद्वान् लेखक ने उक्त उद्धरण में जैनियों के चौबीस तीर्थंकरों के नामोल्लेख-पूर्वक तीर्थंकर शब्द की जो व्युत्पत्ति दी है उससे इस बात की और भी पुष्टि होती है कि तीर्थंकरों की परम्परा अनादि है। संसार में सदा ही सन्त, महात्मा, त्यागी, तपस्वी होते रहे हैं और उनके पार करने में निमित्त भूत तीर्थंकर प्रत्येक काल में उपस्थित रहे हैं। डा. श्री बुद्धप्रकाश, डो. लिट् ने भी तीर्थंकरों की परम्परा को प्राचीन सिद्ध करते हुए उन्हें ही विष्णु और शिव के रूप में मानने की बात कही है। उन्होंने विष्णु व शिव के नामों का तीर्थंकरों के नामों से मेल भी बिठाया है। वे लिखते हैं[1]:—

"महाभारत में विष्णु के सहस्रनामों में श्रेयस, अनन्त, धर्म, शान्ति और संभव नाम आते हैं और शिव के नामों में ऋषभ, अजित, अनन्त और धर्म मिलते हैं। विष्णु और शिव दोनों का एक नाम सुव्रत दिया गया है। वे सब नाम तीर्थंकरों के हैं। लगते है कि महाभारत के समन्वयपूर्ण वातावरण में तीर्थंकरों को विष्णु और शिव के रूप सिद्ध कर धार्मिक एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। इससे तीर्थंकरों की परम्परा प्राचीन सिद्ध होती है[1]।"

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी की जैनधर्म पर बड़ी आस्था थी। जैनधर्म की अहिंसा को आधार मानकर उन्होंने स्वतन्त्रता-आन्दोलन की नींव डाली और उसका सफल संचालन किया। उनके बाद आचार्य विनोबा भावे ने भूदान-यज्ञ का प्रवर्तन किया। विनोबा भावे जैनधर्म और उनके मान्य चौबीस तीर्थंकरों को तथा जैन-मान्य अर्हत् परिपाटी को अतिप्राचीन मानते हैं। उन्होंने लिखा है—

"आज हम महावीर स्वामी का दिन मना रहे हैं। ढाई हजार साल पहले उन्होंने इस भूमि पर अवतार लिया था। उन्होंने जो विचार दिया वह नया नहीं था, महावीर स्वामी तो जैनों के आखिर के यानी चौबीसवें तीर्थंकर माने जाते हैं। उनके हजारों साल पहिले जैन-विचार का जन्म हुआ। ऋग्वेद में भगवान् की प्रार्थना[2] में एक जगह कहा है—'अर्हत् इदं दयसे विश्वमम्ब, हे अर्हत् तुम इस तुच्छ दुनिया पर दया करते हो। इसमें अर्हन् और दया दोनों जैनों के आधार शब्द हैं। मेरी तो मान्यता है कि जितना हिन्दूधर्म प्राचीन है, शायद उतना ही जैनधर्म भी प्राचीन है।"

---

1. भारतीय धर्म एवं संस्कृति; डा० बुद्धप्रकाश, डी० लिट् (निर्देशक, भारतीय विद्या, संस्थान, कुरुक्षेत्रविश्वविद्यालय मेरठ।

2. 'अर्हन्बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमम्व, न वा ओजीयो रुद्रत्वदन्यदस्ति ॥ —ऋग्वेद, 2/33/10
'अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः। —हनुमन्नाटक 1/3
'तीर्थंकरो जगन्नाथो जिनोऽर्हन् भगवान् प्रभुः। —शारदीयाख्य नाममाला 6

उक्त तथ्यों की पुष्टि में आज तक हजारों प्रमाण उपलब्ध हो चुके हैं, जो सर्वसम्मत विद्वानों को मान्य हैं। आद्य शंकराचार्य ने भी स्पष्ट रूप में जैन और उनके उपास्य् अर्हन्तों को स्वीकार किया है और अर्हन्तों की विचार-सरणि का उल्लेख किया है। वे तीर्थंकर, सम्यग्दर्शन, अर्हत् और जैन शब्दों को स्वीकार करते हैं।[1]

बहुत-से पण्डितम्मन्यों की विचार-धारा ऐसी रही कि जैनधर्म प्राचीन नहीं है। यह महात्मा बुद्ध के पश्चात् अस्तित्व में आया; परन्तु ये सब विचार-धाराएँ आज के अन्वेषण एवं प्राचीन उपलब्धियों के सद्भाव में निरस्त हो चुकी हैं। उन्हें यहाँ देना उपयुक्त नहीं है। श्री रामधारीसिंह दिनकर ने लिखा है—

"जैनधर्म बौद्धमत की अपेक्षा कहीं प्राचीन है। बुद्ध ने अपने लिए जो मार्ग चुना है, वह बिल्कुल नवीन मार्ग नहीं था। वह जैन साधना में से निकला था और योग कृच्छ्राचार एवं तपस्या की परम्परा भी जैन साधना से ही निकली। इस प्रकार जैन साधना जहाँ एक ओर बौद्ध साधना का उद्गम है, वहां दूसरी ओर वह शैव-मार्ग का भी आदिस्रोत है।[2]

जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती के नाम से इस देश का भारत नाम पड़ा। तीर्थंकर-पुत्र भरत को हुए आज लाखों-लाख वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, अतः इसमें सन्देह नहीं कि जैन तीर्थंकर, जैनधर्म और जैन-संस्कृति सर्वाधिक प्राचीन हैं। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता डा. वासुदेवशरण अग्रवाल ने एक स्थान पर लिखा है: "मैंने अपनी '**भारत की मौलिक एकता**' नामक पुस्तक में पृष्ठ २२-२४ पर दौष्यन्ति भरत से भारतवर्ष लिखकर भूल की थी, इसकी ओर मेरा ध्यान कुछ मित्रों ने आकर्षित किया, उसे अब सुधार लेना चाहिये।" स्मरण रहे कि डा. अग्रवाल ने 'मार्कण्डेय पुराण-अध्ययन' में जैन तीर्थंकर के पुत्र भरत से भारत नाम पड़ने की प्रसिद्धि कर जैनधर्म की प्राचीनता एवं प्रभाव तथा जैन तीर्थंकर-परम्परा के प्राचीनत्व का स्पष्ट निर्देश कर दिया है। वे लिखते हैं:—

"अग्नीध्र के ज्येष्ठ पुत्र नाभि के पुत्र ऋषभ हुए। इन्हीं ऋषभ के पुत्र भरत हुए। भरत को राज्य देकर ऋषभदेव ने प्रव्रज्या ग्रहण की। जम्बूद्वीप के दक्षिण में हिम नाम का वर्ष भरत को मिला था, जो कालान्तर में उनके नाम से भारतवर्ष कहलाया। इस विषय में यह बात स्पष्टता से जान लेनी चाहिये कि पुराणों में भारतवर्ष के नाम का सम्बन्ध नाभि के पौत्र और ऋषभ के पुत्र भरत से है

1. शांकर भाष्य, 2/2/33
2. संस्कृति के चार अध्याय; रामधारीसिंह 'दिनकर'; पृ. 738

(वायुपुराण ३३ ५२)। दुष्यन्त और शकुन्तला के पुत्र भरत से भारत नाम का सम्बन्ध पुराणकारों ने नहीं कहा। भागवत में भी ऋषभपुत्र महायोगी भरत से ही भारत नाम की ख्याति मानी गयी है: 'येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठ गुण आसीत्। येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति।[1] (भागवत, ५।४।९)।

तीर्थंकर महावीर के सम्बन्ध में डा. अग्रवाल के विचार बड़े परिपक्व, निर्णायक एव मौलिक हैं। जो लोग जैनधर्म को महावीर-काल से स्वीकार करने का व्यर्थ प्रयास करते हैं, उनको डाक्टर साहब की खोज से यह निश्चय कर लेना चाहिये कि तीर्थंकर महावीर श्रीऋषभदेव की परम्परा के अन्तिम तीर्थंकर थे—इनसे पूर्व तेईस तीर्थंकर और हो चुके हैं। जैनधर्म का अस्तित्व भी उतना ही प्राचीन है, जितनी कि तीर्थंकर-परम्परा।[2]

"यह सुविदित है कि जैनधर्म की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। भगवान् महावीर तो अन्तिम तीर्थंकर थे। मिथिला प्रदेश के **लिच्छवी गणतंत्र** से, जिसकी ऐतिहासिकता निर्विवाद है, महावीर का कौटुम्बिक सम्पर्क था। उन्होंने श्रमण-परम्परा को अपनी तपश्चर्या द्वारा एक नयी शक्ति प्रदान की, जिसकी पूर्णतम परम्परा का सम्मान दिगम्बर आम्नाय में पाया जाता है। भगवान महावीर से पूर्व २३ तीर्थंकर और हो चुके थे। उनके नाम और जन्म-वृत्तान्त जैन-साहित्य में सुरक्षित हैं। उन्हीं में भगवान् ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर थे; जिसके कारण उन्हें आदिनाथ कहा जाता है। जैन-कला में उनका अंकन घोर तपश्चर्या की मुद्रा में मिलता है। ऋषभनाथ के चरित्र का उल्लेख श्रीमद्भागवत में भी विस्तार से आता है, और यह सोचने पर बाध्य होना पड़ता है कि इसका कारण क्या रहा होगा? भागवत में ही इस बात का उल्लेख है कि महायोगी भरत ऋषभदेव के शत-पुत्रों में ज्येष्ठ थे और उन्हीं से यह देश भारतवर्ष कहलाया।[3]

उपलब्ध साहित्य में ऋग्वेद सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है। दिगम्बर परम्परा और उसके युगादिप्रवर्तक ऋषभ और श्रमण दिगम्बर मुनियों का उसमें स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। इससे भी तीर्थकर-परम्परा प्राचीनतम सिद्ध होती है। प्रसिद्ध इतिहास-ज्ञाता डा. मगलदेव शास्त्री के शब्दों में :

---

1. डा. वासुदेवशरण अग्रवाल, मार्कण्डेय पुराण—अध्ययन; पृष्ठ 138
2. दिगम्बर जैन परम्परा में प्रायः चौबीसों तीर्थंकरों के नामों के साथ 'नाथ' शब्द जोड़ने की परिपाटी है। 'नाथ' शब्द का अर्थ स्वामी होता है। संस्कृति-परम्परा पर यदि विचारा किया जाए तो भी तीर्थंकर-परम्परा अनादि होने से 'न+अथ' (जिसका प्रारम्भ नहीं) का प्रयोग युक्ति-संगत सिद्ध होता है।
3. जैन साहित्य का इतिहास; पूर्व पीठिका; पृष्ठ 8 (भूमिका —डा. वासुदेवशरण अग्रवाल)।

"ऋग्वेद के एक सूक्त (१०।१३६) में मुनियों का अनोखा वर्णन मिलता है। उनको वातरशना-दिगम्बर, पिशंगा वसते मला-मृत्तिका को धारण करते हुए पिंगल वर्ण और केशी, प्रकीर्णकेश इत्यादि कहा गया है। यह वर्णन श्रीमद्भागवत (पंचम स्कन्ध) में दिये हुए जैनियों के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के वर्णन से अत्यन्त समानता रखता है। वहाँ स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि ऋषभदेव ने वातरशना श्रमण मुनियों के धर्मों को प्रकट करने की इच्छा से अवतार लिया था।"[1]

यद्यपि तीर्थंकर महावीर के प्रादुर्भाव को आज पर्याप्त समय व्यतीत हो चुका है, तथापि तीर्थंकर ऋषभदेव की परम्परा स्थिर रखने और इस काल में उसे प्रगतिशील व लोकोपकारी बनाने के लिए उन्होंने हमें—देश को सर्वस्व दिया है। सन्देह नहीं कि तीर्थंकर महावीर द्वारा प्रतिपादित (प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के अर्थात् जैनधर्म के) सिद्धान्त सर्व विश्व का कल्याण करने में समर्थ हैं—देश को स्वतन्त्र-सार्वभौम सत्ता की प्राप्ति होना, जैन-तीर्थंकरों की परम्परा में उत्पन्न (तीर्थंकर वर्धमान महावीर द्वारा प्रतिपादित) अहिंसा-धर्म का ही फल है। सभी जानते हैं कि महात्मा गांधी ने अहिंसा को आधार मानकर अहिंसक आन्दोलन का संचालन किया था। श्री टी. एन. रामचन्द्रन के शब्दों में—

"महावीर ने एक ऐसी साधु-संस्था का निर्माण किया, जिसकी भित्ति पूर्ण अहिंसा पर आधारित थी। उनका 'अहिंसा परमो धर्मः' का सिद्धान्त सारे संसार में २५०० वर्षों तक अग्नि की तरह व्याप्त हो गया। अन्त में इसने नव भारत के पिता महात्मा गाँधीजी को अपनी ओर आकर्षित किया। यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है कि अहिंसा के सिद्धान्त पर ही महात्मा गांधी ने नवीन भारत का निर्माण किया"।[2]

भारतीय लोकसभा के माननीय अध्यक्ष श्री अनन्तशयनम् आयंगर ने लिखा है—"भारत के महान् सन्तों, जैसे जैनधर्म के तीर्थंकर ऋषभदेव एवं भगवान् महावीर के उपदेशों को हमें पढ़ना चाहिये। आज उन्हें अपने जीवन में उतारने का सबसे ठीक समय आ पहुँचा है; क्योंकि जैनधर्म का तत्त्वज्ञान अनेकान्त (सापेक्ष पद्धति) पर आधारित है और जैनधर्म का आचार अहिंसा पर प्रतिष्ठित है। जैनधर्म कोई पारम्परिक विचारों, ऐहिक व पारलौकिक मान्यताओं पर अन्धश्रद्धा रखकर चलने वाला धर्म नहीं है, वह मूलतः एक विशुद्ध वैज्ञानिक धर्म है। उसका विकास एवं प्रसार वैज्ञानिक ढंग से हुआ है; क्योंकि जैनधर्म का भौतिकी विज्ञान और आत्म-विद्या का क्रमिक अन्वेषण आधुनिक विज्ञान के सिद्धान्तों से समानता रखता है।

1. भारतीय-संस्कृति का विकास : औपनिषद् धारा ; पृष्ठ 180
2. श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन-तीर्थ, टी. एन. रामचन्द्रन, डिप्टी डायरेक्टर जनरल, पुरातत्त्व विभाग।

जैनधर्म ने विज्ञान के सभी प्रमुख सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन किया है; जैसे : पदार्थ-विद्या, प्राणिशास्त्र, मनोविज्ञान, और काल, गति, स्थिति, आकाश एवं तत्त्वानुसन्धान। श्री जगदीशचन्द्र वसु ने वनस्पति में जीवन के अस्तित्व को सिद्ध कर जैनधर्म के पवित्र धर्मशास्त्र भगवतीसूत्र के वनस्पतिकायिक जीवों के चेतनत्व को प्रमाणित किया है। "[1]

इस प्रकार तीर्थंकरों की परम्परा और उनकी दिव्य देशनाओं के प्राचीन-मौलिक एवं विश्वजीवोपयोगी होने के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। इनमें से कतिपय का दिग्दर्शन ऊपर कराया गया है। अतः यह भ्रान्ति दूर कर लेनी चाहिये कि 'जैनधर्म वर्धमान महावीर से प्रारंभ है, या बौद्ध और हिन्दूधर्म की शाखा मात्र है'। तीर्थंकर वर्धमान महावीर ने जैनधर्म का मार्ग दर्शाया अवश्य, पर वह मार्ग नवीन नहीं, अपितु इस युग के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव प्रभृति पार्श्वनाथ तीर्थंकर-पर्यन्त सभी द्वारा प्रदर्शित प्राचीनतम धर्म है। जैनियों के चौबीस तीर्थंकरों की जो परम्परा विद्यमान है, वह इस प्रकार है।[2]

ऋषभदेव

जैन मान्यतानुसार लोक अनादि है। लोक के जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल ये छः द्रव्य भी अनादि हैं। काल-चक्र (समय) सदा घूमता रहता है, व्यवहार में जिसे हम भूत, वर्तमान एवं भविष्य के नाम देते हैं वे सब काल-परिवर्तन के ही परिणाम हैं। काल दो प्रकार के होते हैं—उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी। ये दोनों क्रमशः बढ़ोतरी और घटोतरी के प्रतीक हैं और छह भागों में विभक्त हैं, अर्थात् पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ और छठवाँ। जब तीसरे काल-विभाग के ३ वर्ष ८।। मास शेष रह गये तब तीर्थंकर ऋषभदेव का परिनिर्वाण हुआ और जब चौथे काल विभाग के ३ वर्ष ८।। मास शेष रह गये तब तीर्थंकर महावीर का निर्वाण हुआ।

तीर्थंकर ऋषभदेव, १४ वें मनु नाभिराय और मरुदेवी के पुत्र थे। प्रारम्भ के ५ मनुओं के समय में लोगों में बहुत सरलता थी। यदि किसी से प्रमादवश अपराध हो जाता तो वह 'हा!!' इस आश्चर्य-बोधक अव्यय से ही पश्चात्ताप कर लेता था और इतनी ही दण्ड-व्यवस्था पर्याप्त थी। अन्त के ५ मनुओं के समय में पहुँचते-पहुँचते इस व्यवस्था में 'मा' और 'धिक्' दो कड़ियाँ और जुड़ गईं, अर्थात्

---

1. जैनधर्म (प्रस्तावना); मुनि सुशीलकुमार (1-10-58)।
2. भारतीय जैनेतर साहित्य में भी इन्हें महानतम माना गया है। उसमें इनकी गणना अवतारों में की गई है; परन्तु जैन-दर्शन अवतार नहीं मानता, वह तो उत्तारवाद (ऊर्ध्वगमन) में विश्वास रखता है। देखें पृष्ठ—

लोगों को धिक्कार मात्र सबसे बड़ा दण्ड हो गया। उसके बाद जब कल्पवृक्ष-युग समाप्त हुआ, लोगों को बहुत-सी आवश्यकताओं की प्रतीति होने लगी तब ऐसे समय में तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म हुआ जिन्होंने जनता को असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प की शिक्षा दी तथा उन्हें आगे बढ़ाया। ऋषभदेव के भरत, बाहुबली प्रभृति सौ पुत्र थे। भरत चक्रवर्ती थे, जिनके नामानुसार भारत का नामकरण हुआ है। बाहुबली बड़े तपस्वी थे, इन्होंने दीर्घकाल तक तपस्या करके मुक्ति को प्राप्त किया। दक्षिण में श्रवणबेलगोल में इनकी विशालकाय मूर्ति है, जो आश्चर्यजनक ढंग से निर्मित है।

तीर्थंकर ऋषभदेव एक दिन सभा में विराजमान थे कि नीलांजना नामक देवांगना की नृत्य-मध्य मृत्यु होने से उन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया। उन्होंने दिगम्बर रूप दीक्षा को ग्रहण कर लिया। घोर तपस्या के पश्चात् उन्हें कैवल्य (पूर्णज्ञान) की उपलब्धि हो गई। उन्होंने विश्व में धर्म का प्रचार किया और अन्त में कैलाश पर्वत पर ध्यानस्थ होकर संसार के बन्धनों से वे सदा-सदा के लिए मुक्त हो गये। इनके बाद अरिष्टनेमि से पूर्व २१ तीर्थंकर और हुए। उन्होंने भी तीर्थंकर ऋषभदेव के धर्म का प्रचार-प्रसार किया।[1] २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ (अरिष्ट-नेमि) हुए।

नेमिनाथ

शौरीपुर के समुद्रविजय और वसुदेव परस्पर भाई थे। समुद्रविजय के पुत्र नेमिनाथ व वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण परस्पर चचेरे भाई थे। नेमिनाथ २२ वें तीर्थंकर और श्रीकृष्ण नारायण थे। नेमिनाथ का विवाह जूनागढ़ के राजा की पुत्री राज-मती से होना निश्चित हुआ था। जब बारात जूनागढ़ पहुँची, नेमिनाथ ने एक बाड़े में बन्द सैकड़ों पशुओं को बन्दीगृहवत् पराधीन एवं कष्ट में देखा। उन्हें संसार के दुःखमय जीवन का ध्यान हो आया। उन्होंने विवाह को बन्धन समझा और वे विरक्त होकर निकट ही गिरनार पर्वत पर दिगम्बर मुनि बनकर तपस्या करने लगे। इनके संबंध में जैनेतर ग्रन्थों में अनेकशः उल्लेख हैं।[2] नेमिनाथ

---

(1) धम्मो वि दयामूलो विणिम्मिम्रो म्रादि ब्रह्मण।' –ति. सा. 8012 (म्रादि ब्रह्मा (ऋषभदेव) ने दयामूल धर्म का नियमन किया; प्रचार-प्रसार किया।)

'प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः शशास कृष्यादिषुकर्मसुप्रजाः। —स्वयंभूस्तोत्र

(2) युगे-युगे महापुण्यं दृश्यते द्वारिकापुरी।
अवतीर्णो हरिर्यत्र प्रभासशशिभूषणः॥
रेवताद्रौ जिनो नेमिर्युगादि विमलाचले।
ऋषीणामाश्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम्॥ —महाभारत

'अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम।
इन्द्रस्येवरातिमाजो हुवानाः स्वस्तये नावमिवारुहेम॥' —ऋग्वेद 1011781

के दीक्षा लेने पर राजुलमती भी दीक्षित हो गईं—उन्होंने आर्यिका के व्रत ले लिए। तीर्थंकर नेमिनाथ ने केवलज्ञान-प्राप्ति के बाद तीर्थंकर ऋषभदेव प्रभृति द्वारा प्रदर्शित धर्म का प्रचार-प्रसार किया और अन्त में गिरनार पर्वत से मुक्ति प्राप्त की। नेमिनाथ तीर्थंकर और नारायण श्रीकृष्ण में बड़ा सौहार्द्र था। दोनों के अपने-अपने दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण थे। जहाँ तीर्थंकर नेमिनाथ ने आत्मशुद्धि को लक्ष्य बनाया, वहाँ श्रीकृष्ण ने पाण्डवों को लोकमार्ग में स्थिर रहने में प्रोत्साहित किया।

श्रीकृष्ण : अरिष्ट नेमि के समकालीन

श्रीकृष्ण अपने युग में ख्यात प्रतिष्ठाप्राप्त महापुरुष हुए। जैन मान्यता में इन्हें नारायण की उपाधि प्राप्त थी। ये यदुवंश-शिरोमणि कहलाते थे। इनकी जन्म, मध्य और अन्त तीनों ही अवस्थाएँ मानव-जगत् को कर्त्तव्य-कर्म-प्रेरणादायक हैं। उदाहरणार्थ—इनके समय से पूर्व, जब मथुरा में कंस का राज्य था; इनकी माता देवकी कंस के कारागृह में बन्द थीं। जहाँ जन्म के समय कोई बधावे गाने वाला नहीं था, वहाँ दूसरी ओर मध्य का जीवन भी सतत संघर्ष में व्यतीत हुआ। कभी इन्हें पाण्डवों का दूत बनना पड़ा, कभी सारथी; अन्त समय में वे जंगल में जरद्कुमार के बाण से हत हुए। वहाँ कोई रोने वाला भी नहीं था। यदि मानव, नारायण कृष्ण के जीवन से प्रेरणा ले तो वह सतत् कर्त्तव्य-कर्म की ओर बढ़ता रहे और शरीरादि भौतिक पदार्थों से मोह न करे।

नारायण श्रीकृष्ण, तीर्थंकर अरिष्टनेमि के समकालीन वंशज थे। दोनों में परस्पर साम्यभाव एवं प्रगाढ़ ऐक्य था। ऐसे भी प्रमाण उपलब्ध हुए हैं कि जब श्री नेमिनाथ तपस्या-लीन थे, तब नारायण श्रीकृष्ण और बलराम दोनों पार्श्व में भक्तिलीन खड़े हैं। नेमिनाथ की संसार-शरीर में विराग-भावना के सदृश विराग-भावना नारायण श्रीकृष्ण में भी उद्बुद्ध थी। एक स्थान पर तो उन्होंने स्पष्ट कहा है कि 'मेरी इच्छा इस पार्थिव मर्त्य (मानव) शरीर को इस संसार में बचाये रखने की नहीं है। भागवतकार ने स्पष्ट लिखा है कि—

नैच्छत् प्रणेतुं वपुरत्र शेषितं,
मर्त्येन किं स्वस्थगतिं प्रदर्शयन्।* भागवत ११।३१।१३

अर्थात् उन्होंने (श्रीकृष्ण ने) अपने पार्थिव शरीर को इस संसार में बचाये रखने की इच्छा नहीं की। इससे उन्होंने यह बताया कि इस मनुष्य-शरीर से मुझे क्या प्रयोजन है? आत्मनिष्ठ पुरुषों के लिए यही आदर्श है कि वे नश्वर शरीर के

*अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। —गीता ९।११

प्रति मोह न करें। जैनधर्म की तो भित्ति ही मोह की अनुपस्थिति, अर्थात् वीत-रागता पर खड़ी है। इसमें दो मत नहीं, कि श्रीकृष्ण आत्मज्ञ महापुरुष थे, उन्हें क्षायिक सम्यक्त्वी भी कहा गया है।

स्मरण रहे जैनधर्म में क्षायिक सम्यक्त्वी ही नियम से मोक्ष का अधिकारी होता है।

विश्व के इतिहास में मानव की इच्छाएँ सदा ही बलवती रही हैं। जब, जैसा हेतु मिला; मनुष्य की मनोभावनाएँ भी वैसा रूप धारण करती रहीं; फलतः इच्छापूर्तियों के साधन भी तद्रूप होते रहे। राजा की भावना प्रजा-रक्षा की है, तो उस रक्षा में हिंसक उपकरण-संग्रह भी सहकारी हैं। बिना शस्त्र-संग्रह के अन्यायियों का निग्रह और सन्तों का रक्षण नहीं हो सकता। न्यायपरायण जहाँ उस शस्त्र का प्रयोग न्यायरक्षा के लिए करता है, अन्यायी और स्वार्थी उसी शस्त्र का प्रयोग अपनी दुर्वासनाओं के संपोषण में करता है। इसमें शस्त्र का दोष नहीं अपितु प्रयोक्ता की भावनाओं का बल है। भाव-बल जिधर भी मुड़ जाए, शस्त्र उधर वैसा ही काम करने लगेगा। यही कारण है कि नारायण श्रीकृष्ण के युग में उनके समक्ष ही 'महाभारत' जैसा भयानक युद्ध हुआ। एक ओर पाण्डव और दूसरी ओर कौरव मैदान में आ डटे। मूल कारण यह था कि जब पाण्डवों ने दुर्योधन से अपना भू-भाग माँगा, तब कौरवों के सरदार दुर्योधन ने मान और लिप्सावश उन्हें सुई की नोक बराबर भूमि-खण्ड भी देने से इनकार कर दिया।* ठीक ही है, जब मानव में अन्याय प्रवृत्ति हो जाती है और वह समाजवाद के सिद्धान्त को तिरस्कृत करने लग जाता है; तब देश और प्रजा में विद्रोह फैल जाता है। जैनधर्म का परिग्रह-परिमाण व्रत ऐसे में साम्यवाद लाने के लिए भी है और तृष्णा कम करने के लिए भी।

दुर्योधन के पास श्रीकृष्ण ही दूत बनकर पहुँचे थे। कौरवों की मान और दम्भ तथा लिप्सा-पूर्ण बातों को जब उन्होंने सुना, तब वे बड़े असमंजस में पड़ गये। उन पर धर्म-संकट-सा उपस्थित हो गया। आखिर, दोनों ही पक्ष तो उनके अपने थे; पर करते क्या? उन्होंने वही किया जो एक कर्त्तव्यपरायण महापुरुष को करना चाहिये। उन्होंने युद्ध में पाण्डवों का साथ दिया और उनके सारथी तक बने। वे जानते थे कि युद्ध यद्यपि सहस्र गुना संकट बढ़ाता है तथापि वे विवश

---

* यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव ।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति ॥ —महाभारत, उद्योगपर्व, 125।26

(दुर्योधन ने कहा—हे श्रीकृष्ण तीक्ष्ण सूई के अग्रभाग से जितनी पृथ्वी का स्पर्श हो उतनी भी हम पाण्डवों के लिए नहीं छोड़ सकते।)

थे; क्योंकि जब कोई क्रूर मनुष्य दूसरे की धन-सम्पत्ति में लालच रखकर उसे लेने की इच्छा रखता है और विधि के कोप से सेना-संग्रह करने लगता है, उस समय राजाओं में युद्ध का अवसर उपस्थित होता है। इस युद्ध ने ही कवच, शस्त्र और धनुष उत्पन्न किये हैं।† फलतः युद्ध की तैयारी हुई और दोनों ओर की सेनाएँ रण-भूमि में आ डटीं।

मोह बड़ा प्रबल है, पूरा संसार इसके चक्र में फँसा है; फलतः युद्ध-भूमि में खड़े अर्जुन को भी मोह ने आ दबोचा। अर्जुन ने कहा—'ये सब तो मेरे ही हैं, मैं अपनों के प्रति शस्त्र नहीं उठाऊँगा।' नारायण श्रीकृष्ण ने उसे कर्त्तव्य-कर्म के प्रति जागृत किया। उन्होंने कहा—'हे अर्जुन। राजधर्म दूसरा है, कायर-धर्म दूसरा है। राजा का कर्त्तव्य है कि वह लौकिक न्याय-रक्षा, प्रजा-रक्षा, धर्म-रक्षा आदि के लिए दुष्टों का निग्रह करे। राजा और वीर वही है जो अधिकार व कर्त्तव्य-रक्षा में तत्पर हो।' उन्होंने कहा—'वीर भोग्या वसुन्धरा।' जैसे संन्यासी का धर्म अपना संयम सुरक्षित रखने में है, वैसे ही राजधर्म न्याय-नीति के संरक्षण में है। दुष्ट-निग्रह और संत-संरक्षण ही तो अहिंसा है आदि।" भले ही युद्ध ने संकट बढ़ाया, पर यदि यह धर्म-युद्ध न हुआ होता तो आज मानव-मानव को देख नहीं सकता था। सभी अन्यायी व क्रूर बन जाते और क्रूरता के प्रतीक दुःख और संकट सदा-सदा के लिए संसार पर छा जाते। अतः युद्ध बुरा भी है और किन्हीं अर्थों में भला भी है। जो हुआ, अच्छा ही हुआ। नारायण के साहस ने मानव को कर्त्तव्य का पाठ पढ़ाया, वह आज भी न्याय-निष्ठ होना श्रेष्ठ मानता है।

महाभारत के युद्ध ने जहाँ नर-संहार का बीभत्स दृश्य उपस्थित किया वहाँ उसने मानव को अन्याय के प्रति घृणा के भाव भी उत्पन्न किये। यदि कौरव ने न्याय-नीति का परिचय दिया होता तो अक्षौहिणी संख्यक वीरों को काल के गाल में जाना न पड़ता और न देश पर संकट के बादल ही छाये जाते। महाभारत के युद्ध में ऐसी ही घटनाएँ उपलब्ध हैं, जिनसे मानव-जन्म की असारता और अशरणता की स्पष्ट शिक्षा मिलती है। कोई मनुष्य स्वयं को अजर-अमर, अथवा परस्पर में एक-दूसरे को अपना रक्षक समझे, या इस मान-कषाय में फूला रहे कि मैं सर्व सामर्थ्यवान हूँ—जो कुछ होगा वह मेरी इच्छा पर निर्भर है, तो वह मनुष्य अपराध करेगा, गलती करेगा। उदाहरण के रूप में हम अभिमन्यु के वध की घटना ले सकते हैं। यद्यपि युद्ध में नारायण श्रीकृष्ण जैसे चक्रधारी और अर्जुन जैसे गाण्डीवधर साक्षात् विद्यमान थे, तथापि वे अभिमन्यु को बचा न सके। विपरीत

---

†. यदा गृध्येंनृपरभूती नृशंसो, विधिप्रकोपात् बलमाददानः।
ततोराजामभवत् युद्धमेतत्, तत्रजातं वर्म शस्त्रं धनुश्च। —महाभारत, उद्योगपर्व, 29।29

इसके वहाँ तो अभिमन्यु के मृत शरीर को गिद्ध नोंच-नोंच कर खा रहे थे। वैदिक ग्रन्थ 'शार्ङ्गधर-पद्धति में एक स्थान पर लिखा है—

"साक्षात् माघवतः पौत्रः पुत्रो गाण्डीवधन्वनः।
स्वस्रियो वासुदेवस्य तं गृद्धाः पर्युपासते।—४००७

(इन्द्र का पौत्र, अर्जुन का पुत्र और साक्षात् नारायण श्रीकृष्ण का भानजा अभिमन्यु रण-भूमि में मृत पड़ा है और उसके घावों को गीध नोंच-नोंच कर खा रहे हैं।)

नारायण श्रीकृष्ण में अनेक लोकोत्तर गुण थे। वे दयालु तो थे ही। जब जरद्कुमार का वाण उनके पैर में लगा और जरद्कुमार उनके निकट जाकर अपनी भूल का पश्चात्ताप करने लगा, क्षमा माँगने लगा कि मैंने मृग समझकर भूल से वाण चला दिया, तब श्रीकृष्ण को क्रोध नहीं आया, बल्कि उन्होंने उससे वात्सल्य-भाव से कहा—'तू यहाँ से जल्दी भाग जा। यदि बलराम आ गये और उन्हें सत्य घटना का ज्ञान हो गया तो तेरी कुशल नहीं है।' इस प्रकार हमें श्रीकृष्ण के अनेक उपकारों, आदर्शों और कृत्यों का चिरऋणी रहना चाहिये।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ

भगवान् पार्श्वनाथ तेईसवें तीर्थंकर थे। इनका जन्म वाराणसी के राजा विश्वसेन के घर हुआ। माता का नाम वामादेवी था। ये आजीवन ब्रह्मचारी रहे। एक वार कुमारावस्था में जब ये गंगा-किनारे भ्रमण कर रहे थे, एक साधुवेशी ने लक्कड़ों की धूनी रचा रखी थी। इनको ज्ञान हुआ कि इसमें नाग-नागिनी का एक जोड़ा जल रहा है। इन्होंने साधुवेशी से कहा कि 'तुम ऐसा कुतप क्यों कर रहे हो? जो लक्कड़ तुमने जला रखे हैं, इनमें नाग-नागिनी जल रहे हैं, आखिरकार जब देखा गया तो कुमार की बात सच साबित हुई। कुमार ने उन्हें 'णमोकार मंत्र' सुनाया और वे दोनों मरकर मंत्र-प्रभाव से धरणेन्द्र-पद्मावती हुए। एक वार मुनि-अवस्था में जब पार्श्वनाथ अहिच्छत्र में ध्यान-मग्न थे, कमठ के जीव ने घोर उपसर्ग किये और धरणेन्द्र-पद्मावती ने तीर्थंकर में परम भक्ति प्रकट की। उन्होंने उपसर्ग को दूर किया। इसी समय तीर्थंकर पार्श्वनाथ को केवलज्ञान हुआ। उन्होंने समवसरण सहित ७० वर्षों तक धर्म-प्रचार-हेतु विहार किया। और १०० वर्ष की आयु में श्री सम्मेदशिखर-शैल से मुक्ति प्राप्त की।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के उपदेश में मूलतः वे ही बातें थीं, जिन्हें प्रथम तीर्थंकर ने प्रचारित किया था। इस प्रकार तीर्थंकर ऋषभदेव को लेकर महावीर स्वामी तक और आज भी जैन धारा सिद्धान्ततः एक ही रूप में प्रवाहित हो रही है। यह धर्म प्राचीनतम है। जो लोग इसे महावीर से प्रचलित मानते हैं, उन्हें निम्न प्रसंग पर ध्यान देकर अपने भ्रम को दूर कर लेना चाहिये—

'ईसा से अगणित वर्ष पहले से जैनधर्म भारत में फैला हुआ था। आर्य लोग जब मध्य भारत में आये तब यहाँ जैन लोग मौजूद थे, (**ए शार्ट स्टडी इन साइन्स आफ कम्पेरेटिव्ह रिलीजन्स; मेजर जनरल जे. सर. आ. फर्लांग**)।

इस प्रकार इस काल में तीर्थंकरों का धर्म तीर्थंकर महावीर तक निर्बाध प्रवाहित होता रहा है। तीर्थंकर महावीर चौबीसवें तीर्थंकर थे।

चउवीस तित्थयर भत्ति

त्थोस्मामि हं जिणवरे, तित्थयरे केवली अणंतजिणे ।
णरपवरलोयमहिए, विहुयरयमले महाप्पणे ॥१॥

लोयस्मुज्जोयकरे, धम्मं तित्थंकरे जिणे वंदे ।
अरहंते कित्तिस्से चउवीसं चेव केवलिणो ॥२॥

उसहभजियं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥३॥

सुविहिं च पुप्फयंतं सीयल सेयं च वासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं भयवं धम्मं संतिं च बंदामि ॥४॥

कुंथुं च जिणवरिंदं अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं ।
वंदाम्यरिट्ठणेमिं तह पासं वड्ढमाणं च ॥५॥

एवं मय अभिमया विहुयरयमला पहीणजरमरणा ।
चउवीसं वि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु ॥६॥

कित्तिय वंदिय महिया ए ए लोगोत्तमा जिणा सिद्धा ।
अरोग्गणाणलाहं दिंतु समाहिं च मे बोहिं ॥७॥

बंदेहिं णिम्मलयरा आइच्चेहिं अहियपहा संता ।
सायरमिव गंभीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥८॥

(श्रमण जैनमुनि इस स्तुति का प्रति-दिन प्रातःकाल पाठ करते हैं ।)

चौबीस तीर्थंकर-भक्ति

'मैं अनन्त जिनेन्द्रों, तीर्थंकरों और केवलियों की स्तुति करता हूँ। वे सभी माहात्म्य को प्राप्त, रज-मल-विधूत (रहित) और प्रमुख मानवों से लोक में पूजित हैं, अथवा मानवों में प्रमुख और लोक-पूज्य हैं।'

'लोक को प्रकाशित (उपदेश द्वारा) करनेवाले धर्मरूपी तीर्थ के कर्ता अरहंत, चौबीस केवली (तीर्थंकर) का मैं कीर्तन करता हूँ।'

'मैं ऋषभ और अजित की वन्दना करता हूँ; संभव, अभिनन्दन और सुमति की वन्दना करता हूँ; पद्मप्रभु, सुपार्श्व और चन्द्रप्रभ की वन्दना करता हूँ। '

'सुविधि, पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयाँस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति की वन्दना करता हूँ।'

'जिनवर कुन्थु, अर (नाथ), मल्लि, सुव्रत (मुनिसुव्रतनाथ), नमि (नाथ), अरिष्टनेमि (नेमिनाथ), पार्श्व तथा वर्धमान (महावीर) की वन्दना करता हूँ।'

इस प्रकार मेरे द्वारा स्तुति किये गये कर्म-रजमल से रहित, जरा-मरण से रहित जिनवर चौबीस तीर्थंकर मुझ पर प्रसन्न हों।

'लोकोत्तम जिन, सिद्ध, मेरे द्वारा (लोकों द्वारा भी) वचन से कीर्तित, पूजित और वंदित हैं, वे मुझे आरोग्यलाभ दें, समाधि और ज्ञान दें।'

'चन्द्र से अधिक निर्मल, सूर्य से अधिक प्रभावान्, सागर से गम्भीर, सिद्ध (आत्म-कार्य सिद्ध होने से अरहंत भी सिद्ध हैं), मुझे सिद्धि (लौकिक और आत्म दोनों) प्रदान करें।'

□ □ □
□ □ □

१९

महावीर-स्तवन : आशाधर सूरि

(पद्याकुलक राग)

सन्मति जिनपं सरसिज वदनं ।
संजनिताखिलकर्मकमथनं ॥

पद्मसरोवर मध्य गतेन्द्रं ।
पावापुरि महावीर जिनेन्द्रं ॥१॥ पद्म०

वीर भवोदधि पारोत्तारं ।
मुक्ति श्रीवधु नगर विहारं ॥२॥ पद्म०

द्विर्द्वादशकं तीर्थपवित्रं ।
जन्माभिषकृत निर्मल गात्रं ॥३॥ पद्म०

वर्धमाननामाख्य विशालं ।
मानप्रमाणलक्षण दशतालम् ॥४॥ पद्म०

शत्रुविमथन विकट भटवीरं ।
इष्टैश्वर्य धुरी कृतदूरं ॥५॥ पद्म०

कुंडलपुरि सिद्धार्थभूपालं ।
तत्पत्नी प्रियकारिणि बालं ॥६॥ पद्म०

तत्कुलनलिन विकाशित हंसं ।
घातपुरोघातिक विध्वंसं ॥७॥ पद्म०

ज्ञान – दिवाकरलोकालोकं ।
निर्जित कर्माराति विशोकं ॥८॥ पद्म०

बालत्वे संयमसुपालितं ।
मोहमहानलमथन विनीतं ॥९॥ पद्म०

तीर्थंकर वर्द्धमान

अन्य नाम	:	वर्द्धमान, (वीर, अतिवीर, महावीर, सन्मति)
तीर्थंकर क्रम	:	चतुर्विंशतम
जन्मस्थान	:	क्षत्रिय कुण्डग्राम
पितृनाम	:	सिद्धार्थ
मातृनाम	:	त्रिशलादेवी (प्रियकारिणी)
वंशनाम	:	नाथवंश (ज्ञातृवंश, नाठ इति पालि:)
गर्भावितरण	:	आषाढ़ शुक्ला षष्ठी, शुक्रवार; १७ जून ५९९ ई. पू.।
गर्भवास	:	नौ मास, सात दिन, बारह घंटे
जन्म-तिथि	:	चैत्र शुक्ला त्रयोदशी, चन्द्रवार, २७ मार्च, ५९८ ई.पू.।
वर्ण (कान्ति)	:	स्वर्णाभ (हेमवर्ण)
चिह्न	:	सिंह
गृहस्थित रूप	:	अविवाहित (प्रसंग चला, परन्तु विवाह नहीं हुआ)
कुमारकाल	:	२८ वर्ष ५ माह १५ दिन
दीक्षा-तिथि	:	मगसिर कृष्णा १०, सोमवार, २९ दिसम्बर, ५६९ ई. पू.।
तप	:	१२ वर्ष, ५ मास, १५ दिन
कैवल्य	:	वैशाख शुक्ला १०, रविवार २६ अप्रेल, ५५७ ई. पू.।
देशनापूर्व मौन	:	६६ दिन
देशना-तिथि (प्रथम	:	श्रावण कृष्णा प्रतिपदा, शनिवार, १ जुलाई ५५७ ई.पू.।
निर्वाण-तिथि	:	कार्तिक कृष्णा ३०, मंगलवार, १५ अक्टूबर, ५२७ ई.पू.।
निर्वाण-भूमि	:	पावा (मध्यमा पावा)
आयु	:	७२ वर्ष (७१-४-२५)
जन्म-समय-ज्योतिर्ग्रह— स्थिति	:	नक्षत्र : उत्तरा फाल्गुनि राशि : कन्या महादशा : बृहस्पति दशा : शनि अन्तर्दशा : बुध
पूर्वभव	:	अच्युतेन्द्र

तीर्थंकर वर्धमान महावीर

'भूपाल-मौलि-माणिक्यः सिद्धार्थो नाम भूपतिः ।
कुण्डग्राम* पुरस्वामी तस्य पुत्रो जिनोऽवतु ।।

—काव्यशिक्षा, ३१

(कुण्डग्राम नामक नगर के नृपति सिद्धार्थ, राजाओं के मुकुटमणि हैं। उनके पुत्र 'महावीर तीर्थंकर' हमारी रक्षा करें।)

'देवाधिदेव ! परमेश्वर ! वीतराग ! सर्वज्ञ ! तीर्थंकर ! सिद्धि ! महानुभाव !
त्रैलोक्यनाथ ! जिनपुंगव ! वर्धमान ! स्वामिन् ! गतोऽस्मि शरणं चरणद्वयं ते ।

—प्रतिष्ठातिलक, नेमिचन्द्र

(हे देवाधिदेव, हे परमेश्वर, हे वीतराग, हे सर्वज्ञ, हे तीर्थंकर, हे सिद्ध, हे त्रैलोक्यनाथ, हे जिनश्रेष्ठ, महानुभाव वर्द्धमान (वृद्धि को प्राप्त महावीर) स्वामिन्! मैं आपके उभय चरणों की शरण में प्राप्त हुआ हूँ; मेरा उद्धार कीजिये।)

पूर्व-भूमि

जब ग्रीष्म का सूर्य अपनी प्रखर किरणों से जगत् को संतप्त कर देता है, पक्षियों का उन्मुक्त गगन-विहार अवरुद्ध हो जाता है, स्वच्छन्द-विहारी हरिणों की खुले मैदानों की अबाध क्रीड़ा रुक जाती है, असंख्य प्राणधारियों की तृष्णा शान्त करनेवाले सरोवर सूख जाते हैं, उनकी सरस मृत्तिका नीरस होकर विदीर्ण हो जाती है, जनता का इतस्ततः आवागमन समाप्त-प्रायः हो जाता है, प्राण-दायक वायु उत्तप्त लू बनकर प्राणान्तक बन जाती है, समस्त प्राणी—जलचर-थलचर-नभचर—असह्य ताप से त्राहि-त्राहि करने लगते हैं, तब जगत् की उस व्याकुलता

---

* अथदेशोऽस्ति विस्तारी जम्बूद्वीपस्य भारते । विदेह इति विख्यातः स्वर्गखण्डसमः श्रियः ।।
तत्राखण्डलनेत्राली पद्मिनी खण्डमण्डनम् । सुखांभः कुण्डमाभाति नाम्ना कुण्डपुरं पुरम् ।

—आचार्य जिनसेन, हरिवंश पुराण, 1।2।1-5

को देखकर प्रकृति करवट लेती है, आकाश में सजल-साँवरे मेघ छा जाते हैं, संसार का सन्ताप मिटाने के लिए उनमें से शीतल जल-बिन्दु बरसने लगते हैं। वाष्प (भाप) के रूप में पृथ्वी से लिये हुए जल-ऋण को आकाश व्याज (सूद) सहित चुकाने के लिए जल-धारा की झड़ी बाँध देता है, जिससे पृथ्वी न केवल अपनी प्यास बुझाती है, अपितु असंख्य व्यक्तियों की प्यास बुझाने के लिए अपना भण्डार भी भर लेती है, जनता के आमोद प्रमोद के लिए हरी घास के गलीचे भी बिछा देती है, समस्त जगत् का सन्ताप दूर हो जाता है और सभी मनुष्य, पशु-पक्षी आनन्द की ध्वनि करने लगते हैं।

इसी प्रकार स्वार्थ की आड़ में जब दुराचार, अत्याचार संसार में फैल जाता है, दीन-हीन बलहीन प्राणी निर्दयता की चक्की में पिसने लगते हैं, रक्षक जन ही उनके भक्षक बन जाते हैं, स्वार्थी, दयाहीन मानव-धर्म की धारा अधर्म की ओर मोड़ देता है, दीन असहाय प्राणियों की करुण पुकार जब कोई नहीं सुनता, तब प्रकृति का करुणा-स्रोत प्रवाहित हो उठता है। वह ऐसा पराक्रमी साहसी वीर ला खड़ा करती है, जो अत्याचारियों के अत्याचार को मिटा देता है, दीन-दुःखी प्राणियों का संकट दूर कर देता है और जनता को सत्य प्रदर्शन करता है। *

आज से २५७१ वर्ष पूर्व भारत की वसुन्धरा भी पाप-भार से काँप उठी थी। अज्ञ जनता जिन लोगों को अपना धर्म-गुरु पुरोहित मानती थी, धर्म का अवतार मानती थी उन्हीं का मुख रक्त-माँस का लोलुपी बन गया था, अतः वे अपनी लोलुपता शान्त करने के लिए स्वर्ग, राज्य, पुत्र, धन आदि का प्रलोभन देकर भोली, अबोध जनता से यज्ञ कराते थे, उनमें बकरों आदि अनेक मूक और निरपराध पशुओं की बलि चढ़वाते थे—उन्हें हवन-सामग्री बनवाते थे। ज्ञान-हीन जनता उन स्वार्थी और अपने द्वारा माने हुए धर्म-गुरुओं के वचनों को परमात्मा की वाणी समझकर दयाहीन पाप को धर्म समझ बैठी थी और दीन-निर्बल, असहाय पशुओं की करुण पुकार सुननेवाला कोई न था।

इस प्रकार माँस-लोलुपी धर्मान्धों का स्वार्थ और जनता का अज्ञान जब पाप-कृत्य कर रहा था, तब जन-साधारण में ज्ञान का प्रकाश करनेवाले और पथ-भ्रष्ट धर्मान्धों का हृदय परिवर्तित करनेवाले सशक्त नेतृत्व की इस भारतभूमि को आवश्यकता थी। इस आवश्यकता की पूर्ति तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर ने की।

* आचाराणां विघातेन कुदृष्टीनां च सम्पदाम्।
धर्मग्लानि परिप्राप्तमुच्छ्यन्ते जिनोत्तमाः ॥ —पद्मपुराण, 5।2?6

(जब आचार नष्ट होने लगते हैं तब मिथ्यादृष्टियों के द्वारा ग्लानि को प्राप्त हुए धर्म की उन्नति करने के लिए जिनोत्तम (तीर्थंकर) उत्पन्न होकर उसे पुनः ऊंचा उठाते हैं।)

वर्द्धमान का जन्म जम्बूद्वीप स्थित भरतक्षेत्र के आर्यखण्डान्तर्गत विदेहदेशस्थ कुण्डग्राम में राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला के गर्भ से हुआ। कवि मनसुखसागर के शब्दों में—

चौपई

'जम्बूदीप मनोहर सार। भरतक्षेत्र इह अति सुखकार ।।
आरजखण्ड विदेह[1] सुदेश। बसैं सुजन सब उत्तम भेष ।।
कुण्डलपुर नगरी इक बसै। अति अद्भुत सुन्दरता लसै[2] ।।
सिद्धारथ नामा भूपती। राज करै राजा समकिती ।।
त्रिसला पटरानी मनहार। गुनगर्भित सुभलच्छनधार ।।
नई सित नारी पति जदा। इन्द्र अवधि करि जानो तदा ।।

(असंख्यात द्वीप-समुद्रों के मध्य) सुन्दर जम्बूद्वीप है और उसमें सुखकारी भरतक्षेत्र है। भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में विदेह देश है, जिसमें उत्तम वेश के धारक उत्तम जन रहते हैं। उसमें अति सुन्दर और अद्भुत कुण्डलपुर नगरी है। उस नगरी में सिद्धार्थ नाम का सम्यग्दृष्टि राजा राज्य करते थे। राजा के मन को हरण करनेवाली त्रिशला नाम की पटरानी थी जो गुणयुक्त तथा शुभ लक्षणों की धारक थी। (जम्बूद्वीप यत्र जम्बूवृक्ष: स्थित:।' —सर्वार्थसिद्धि, ३।३३)

जम्बूद्वीप[3] शास्त्र-प्रसिद्ध द्वीप है। जैनेतर पुराणों में भी इसकी प्रसिद्धि है।[4] वैशाली इसी द्वीप की भरतक्षेत्र संबंधी एक नगरी थी। यह धन-जन से पूर्ण और वैशाली गणतंत्र-शासन की केन्द्र-भूत थी। इस गणतन्त्र-शासन के नायक राजा 'चेटक' थे। चेटक श्रावक थे। चेटक की अनेक गुणवती पुत्रियां थीं।[5]

1. 'अथ देशोऽस्ति विस्तारी जम्बूद्वीपस्य भारते। विदेह इति विख्यात: स्वर्ग खण्डसम:श्रिय: ।। —हरिवंश, 1।2 (विदेह (पु.) विगतो देहा: यस्य)
   'नाम्ना विदेह इति दिग्वलये समस्तं।' —वर्धमान चरित्र, प्रसग0 ।1।17
   'भरतेऽस्मिन् विदेहाख्ये विषये भवनांगणे।' —उत्तरपुराण, 74।151
   'सुखाभ: कुण्डमाभाति नाम्ना कुण्डपुरं पुरम्।' —हरिवंश, 5।2
2. 'जम्बूद्वीप लवणोदादय: शुभनामानो द्वीप समुद्रा:।' —तत्वार्थसूत्र, 3।7
3. 'जम्बूद्वीप: समस्तानामेतेषां मध्यसंस्थित:।' —विष्णुपुराण, 2।2।7
4. 'सो चेडवो सावओ।' (आवश्यक चू. उ., 164)
   'चेटकस्तु श्रावको।' —(त्रिषष्ठि., 106।118)
5. 'सप्तर्धयो पुत्र्यश्च जायसी प्रियकारिणी।
   ततोमृगावती पश्चात् सुप्रभा च प्रभावती।
   चेलनी पंचमा ज्येष्ठी षष्ठी चान्त्या च चन्दना। —उत्तरपुराण, आचार्य गुणभद्र, 75।6-7
   (राजा चेटक के सात पुत्रियां थीं। उनमें सब से बड़ी प्रियकारिणी तदनन्तर मृगावती, सुप्रभा, प्रभावती, चेलनी (चेलना), ज्येष्ठा और अन्तिम चन्दना।

सबसे बड़ी का नाम त्रिशला था। त्रिशला का पाणिग्रहण कुण्डलपुर (कुण्डग्राम) के शासक ज्ञातृ-वंशीय क्षत्रिय राजा "सिद्धार्थ" के साथ हुआ था। त्रिशला राजा सिद्धार्थ को बहुत प्रिय थीं, जिसके कारण उनका द्वितोय नाम "प्रियकारिणी[1] भी प्रसिद्धि पा चुका था। त्रिशला सर्वगुणसम्पन्ना आदर्श नारी थीं। महारानी के गुणों का वर्णन 'नेति-नेति' अवर्णनीय है।[2]

राजा चेटक और सिद्धार्थ दोनों ही अपने राज्यों को सर्वभांति समृद्ध बनाने में दत्तचित्त और निपुण थे। उनके शासन में प्रजा सुखी थी, क्योंकि तत्कालीन उभय राजाओं की राज्य-प्रणालो सर्वतन्त्र-गणतंत्र का अनुसरण करने वाली थी–वहाँ साम्राज्यवाद और सामन्तशाही को प्रश्रय नहीं था। वैशाली गणतन्त्र में शासकों की सभा को 'गणसन्निपात' नाम दिया गया है। मतदान के लिए भो उस समय सभा का आयोजन घोषणापूर्वक किया जाता था और गुप्तविधि से शलाकाओं द्वारा अपना 'छन्द' (मतदान) किया जाता था। राज-सभा में शास्त्र-विहित अंगों का भी पूर्ण समावेश था। किसी विवादग्रस्त विशद विषय के समाधान के लिए सार्वजनिक सभाओं की व्यवस्था भी की जातो थी। राज्य में श्रमण-श्रमणो ओर श्रावक-श्राविकाओं एवं धर्मात्माओं को पूर्ण सम्मान प्राप्त था।

स्वप्न-प्रसंग

एक समय रात्रि को जब त्रिशला रानी नन्द्यावर्त (राजभवन) में आनन्द से निद्रा-मग्न थीं–उन्होंने रात्रि के अन्तिम प्रहर में सोलह सुन्दर स्वप्न देखे।[3]
कवि मनसुखसागर के शब्दों में :—

'रसमिति मास बितीतिये, मंगल नृत्यसुगान।
सितअष्टाषष्टीस्वस्वनि, ऊषानक्षत्र बखान॥
पश्चिम निशि षोडस सुपन, लखे महासुखकार।
गजमुख प्रविशत अन्त में सोऽच्युतेन्द्र थितिधार॥[4]

---

1. 'छायेव सूर्यस्य सदाऽनुगन्त्री बभूव मायेव विधेः सुमन्त्रिन्।
नृपस्य नाम्ना प्रियकारिणीति यस्याः पुनीता प्रणयप्रणीतिः॥ —वीरोदय काव्य, 3।15

2. कस्तां योजयितुं शक्तस्त्रिशलां गुणवर्णनैः।
या स्व-पुण्यैर्महावीरप्रसवाय नियोजिता।
(ऐसा सामर्थ्य किसमें है, जो महारानी प्रियकारिणी–त्रिशला के गुण-वर्णन की योजना कर सके? क्योंकि अपने पुण्य के कारण ही वे तीर्थंकर महावीर की जननी बनी थीं।)

3. आषाढस्यसितेपक्षे षष्ठ्यां शशिनि चोत्तराषाढ सप्ततलप्रासादस्याभ्यन्तरवर्तिनि॥
नन्द्यावर्तगेहे रत्न दीपकाभिः प्रकाशिते। रत्नपर्यंके हंसतूलिकादि विभूषितेः।
—आ. गुणभद्र, उ. पु. 74।253-54
(आषाढ़ शुक्ला षष्ठी को जब चन्द्र उत्तराषाढ़ नक्षत्र पर था, प्रसन्नबुद्धि प्रियकारिणी त्रिशला सप्तखण्डी महल में रत्नदीपों से प्रकाशित नन्द्यावर्त भवन में हंसतूलिका (गद्दों) से युक्त रत्नपर्यंक पर सो रही थीं।)

4. मनसुखसागर

(राजा सिद्धार्थ के भवन पर रत्नवृष्टि व मंगल नृत्य-गान होते हुए छह माह पूर्ण होने पर आषाढ़ शुक्ला षष्ठी को उत्तराषाढ़ नक्षत्र में रात्रि के अन्तिम प्रहर में त्रिशला रानी ने सोलह स्वप्न देखे और अन्त में गज को मुख में प्रवेश करते हुए देखा। तभी अच्युत-इन्द्र अपनी स्वर्ग आयु पूर्ण कर रानी के गर्भ में आया। स्वप्नों को देखकर रानी की नींद खुल गई। वह स्नानादि से निवृत्त हो राजा सिद्धार्थ के पास गई और उन्हें सोलह स्वप्न सुनाये। राजा ने अवधिज्ञान से उनका फल जाना और रानी को तीर्थंकर पुत्रोत्पत्ति-रूप फल कहा।)

चौपई

प्रात सूर्य सुभ शब्द अपार। जै जै रव बहु जन उच्चार ॥
तिन करि जिन-माता प्रतिबोधि। उठि मज्जन करि काया सोधि ॥
लई सहचरी संग अनेक। मृदुवानी युत हिये विवेक ॥
पति के निकट जाय हरषाई। अर्धासन[1] थिति दीनो राई ॥
करि आलाप परस्पर जबै। आगम कारन पूछ्यो तबै ॥
पहर एक निशि अन्त प्रमान। षोडस सुपन लखे[2] सुखदान ॥
तिनको फल जंपो मनधार। सुनत श्रवन हित तन-मन हार ॥
अवधि-चक्षु सिद्धारथ भूप। लखि वरने फल अधिक अनूप[3] ॥

(सूर्योदय से पूर्व प्रातःकाल जब जन (बन्दीजन) जय-जयकार कर रहे थे, उसके द्वारा तीर्थंकर-माता त्रिशलारानी-को प्रतिबोध (दिन निकलने का ज्ञान) हुआ। वे उठीं और स्नानादि क्रिया द्वारा उन्होंने अपनी काय-शुद्धि की। उन्होंने अपने साथ विवेकशीला और मृदुवचनी अनेक सहचरियों को लिया। वे हर्षयुक्त राजा के निकट गईं। राजा ने उन्हें अर्धासन दिया। परस्पर वार्तालाप करते हुए राजा ने आने का कारण पूछा। रानी ने कहा--मैंने रात्रि के अन्तिम प्रहर में सुखदायक सोलह स्वप्न देखे हैं, आप उनका फल कहिये, जिससे कर्ण--मन और शरीर को सुख का अनुभव हो। राजा सिद्धार्थ ने अवधिज्ञान रूपी चक्षुओं से रानी द्वारा देखे गये स्वप्नों का फल कहा।)

---

1 'संप्राप्तार्धासना स्वप्नान् यथाक्रममुदाहरत्।' —उत्तरपुराण

2. 'अस्वप्नपूर्वं जीवानां न हि जातु शुभाशुभम्। —क्षत्रचूड़ामणी, 1।21
'सिद्धार्थनृपतितनयो भारतवास्ये विदेहकुण्डपुरे।
देव्यां प्रियकारिण्यां सुस्वप्नान्संप्रदर्श्य विभुः॥ —निर्वाण-भक्ति 4

3. मनसुखसागर।

सोलह स्वप्न[1] और उनके फल

चौपई

धुरि गजेन्द्र दरसन तैं जान । होसी जगपति पुत्र प्रधान ।।
महावृषभ पुनि देख्यो सोय । जग जेठो नन्दन तुम होय ।।
सेत सिंह दरसन फल भास । अतुल अनंती सकति-निवास ।।
कमला-मज्जन तैं सुर ईस । करैं न्होन कनकाचल सीस ।।
पुहुपदाम दो देखीं सार । तिसफल दुविध धर्मदातार ।।
ससि तैं सकललोक सुखदाय । तेजपुंज सूरज तैं थाय ।।
मीन जुगल तैं सब सुख भाज । कुम्भ विलोकन तैं निधिराज ।।
सरवन तैं सब लच्छनवान । सागर तैं गम्भीर महान ।।[2]

(प्रथम स्वप्न में गजेन्द्र-दर्शन से तुम्हारे जगत् में प्रधान, जगत्पति पुत्र होगा। वृषभ के दर्शन से तुम्हारा पुत्र जगत् में वड़ा होगा । श्वेत सिंह देखने का फल है कि वह अतुल्य-अनन्त शक्ति का धारक होगा। लक्ष्मी-स्नान से उसका अभिषेक सुमेरु पर्वत पर होगा। दो पुष्प-मालाओं से वह द्विविध धर्मदाता होगा। चन्द्र-दर्शन से सकल लोक को सुखदाता और सूर्यदर्शन से तेजपुंज होगा। मीन-युगल सुखी होने का प्रतीक है और कुम्भ सर्वनिधियों के स्वामित्व को वतलाता है। सरोवर-दर्शन से तुम्हारा पुत्र सुलक्षण और सागर-दर्शन से महान् गम्भीर होगा।)

---

1. (क) 'माता यस्य प्रभाते करिपतिवृषभौसिंहपोतं च लक्ष्मीं,
मालायुग्मं शशांकं रविझषयुगले पूर्णकुम्भौ तटाकम्।
पयोधिं सिंहपीठं सुरगणनिभृतं व्योमयानं मनोज्ञं,
चान्द्राक्षीन्नागवासं मणिगणशिखिनौ तं जिनं नौमि भक्त्या ।।

(1) गज, (2) वृषभ, (3) सिंह, (4) लक्ष्मी, (5) माल्यद्विक, (6) शशि, (7) सूर्य, (8) कुम्भद्विक, (9) झषयुगल, (10) सागर, (11) सरोवर, (12) सिंहासन, (13) देव-विमान, (14) नागविमान, (15) रत्नराशि, (16) निर्धूम अग्नि।

(ख) तत्थ वसह-मायंग-सीह-मायर चंदाश्च्च जलकिलियकलस-पउमाहिसेय-जलण-पउमायर-भवण-विमाण-रयणराशि सीहासण-कीडंतमच्छ-पफुल्लदाम-जुवलाणं अण्णो अण्णोसंबंधविरहि-याणं मुत्ततित्थयरमाद्णं सोलसण्णं दंसणं छिण्ण सुमिणओ णाम। —छक्खंडागमे-वेयणाखंडं 4।1।14

(ग) वसह-गय-सीह-वरसिरि-दाम-ससि-रवि-झयं च कलसं च।
सर-सायरं-मिणं-वरभवणं रयण कूगी ।।

—विमलसूरि, पदम चरिउ 3।62.

2. पार्श्वपुराण, 5।120-123.

चौपई

सिंहपीठ तैं मृगलोचनी । होय बाल तुम त्रिभुवनधनी ।।
सुर-विमान देख्यौ सुखपाय । सरगलोक तैं उपजै आय ।।
नागराज-गृह को सुन हेत । जनमैं मति-सुति-अवधि समेत ।।
रतन-रासि तैं गुन-मनि-खान । कर्म-दहन पावक तैं जान ।।
गज-प्रवेस जो वदन मझार । सुपन-अंत देख्यौ वर नार ।।
'वर्धमान जिन'[1] जगत प्रधान । गर्भ तुम्हारे उतरे आन[2] ।।

(हे मृगलोचनी, सिंहासन तुम्हारे पुत्र को त्रिभुवन-धनी होता बतलाता है । देव-विमान-दर्शन का फल है कि वह स्वर्गलोक से चलकर तुम्हारे गर्भ में आयेगा । धरणेन्द्र-भवन से मालूम होता है कि वह तीन-ज्ञान-धारक (जन्म से ही) होगा । रत्न-राशि पुत्र के गुणभण्डार और अग्नि कर्म-दहन को सूचित करते हैं । स्वप्नान्त में जो तुमने मुख में गज-प्रवेश देखा है, उससे तुम ऐसा जानो कि (बाल तीर्थंकर) स्वर्ग से चयकर तुम्हारे गर्भ में प्रवेश कर गये ।)

चौपई

तीन लोक मंगल सुखकर्न । सेवैं आइ सुरासुर चर्न ।।
आत्मज उपजै अतिसुखकार । आतमकाज करि शिवपद धारि ।।
सुनि त्रिसला देवी सुखपाई । निजगृह गमन किये सुखदाइ ।।
सुभ-मनसा मनि विवुध समेत । आए गरभ कल्यानक हेत ।।
थापे सिंह पीठ दम्पती । करिअभिषेक हरप सुरपती ।।
वस्त्राभरन भेंट बहु देइ । निज-निज थानक गमन करेइ ।

(तीनों लोकों में मंगल और सुख का कर्ता, जिसके चरणों की देव-असुर सेवा करेंगे और जो आत्मकल्याण-मोक्ष को प्राप्त करेगा ऐसा तुम्हारे पुत्र-रत्न उत्पन्न होगा । ऐसा सुनकर त्रिशलादेवी सुख का अनुभव करती हुई, राजा के समीप से उठकर अपने गृह की ओर चली गई । तदनन्तर इन्द्र अन्य देव-परिवार सहित जिन तीर्थंकर के गर्भ-कल्याणक (गर्भोत्सव) मनाने के लिए कुण्डलपुर में राजा सिद्धार्थ के घर आया । उन स्वर्ग-देवों ने उभय दम्पति को सिंहासन पर बिठाया और इन्द्र ने अभिषेक कर अत्यन्त हर्ष को प्रकट किया । उन्होंने तीर्थंकर -माता-पिता को अनेक वस्त्राभरण भेंट किये और अपने स्थान (स्वर्गलोक) को चले गये ।)

---

1. मूलपाठ 'श्री पारस जिन' है । सभी तीर्थंकरों की माताएँ समान स्वप्न देखती हैं, और उनके पति समान फल वर्णन करते हैं, अतः मूलपाठ को 'बर्द्धमान जिन' के रूप में अंकित करना निर्दोष माना गया है । (आदि पुराण 12; 103–29)

2. पार्श्वपुराण, 5।124–126.

अपने घर अत्यन्त सौभाग्यशाली जीव का आगमन जानकर राजा सिद्धार्थ और त्रिशला रानी को बहुत हर्ष हुआ। वे उस दिन की प्रतीक्षा करने लगे, जब उन्हें अपने पुत्र के मुख को देखने का अवसर मिलेगा।

स्वर्ग के इन्द्र की आज्ञा से उसी दिन से ५६ कुमारिका देवियाँ त्रिशलारानी की सेवा में तत्पर हो गईं—गर्भ-शोधन-क्रिया तो वे पहिले ही कर चुकी थीं। रानी की चिर-नियुक्त परिचारिका प्रियम्वदा भी रानी की सुख-सुविधा में पूरा योग दे रही थी। प्रियम्वदा ने रानी को किसी भी तरह का शारीरिक तथा मानसिक कष्ट नहीं होने दिया। विविध प्रकार के मनोरंजन करके त्रिशला रानी का चित्त प्रसन्न रखा, उन्हें उल्लसित रखा।

जन्म-कल्याणक

नौ मास, सात दिन, बारह घण्टे व्यतीत होने पर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को † अर्यमा योग में त्रिशलारानी ने अनुपम तेजस्वी सर्वांग पुत्र को जन्म दिया। तीर्थंकर के जन्म-काल में समस्त जगत् में शान्ति की लहर बिजली की भाँति फैल गई। अगणित यातनाओं में सतत दुःखी नारकी जीवों को भी उस क्षण चैन की साँस मिली। समस्त कुण्डग्राम में आनन्द-भेरी बजने लगी। सारा नगर हर्ष में निमग्न हो गया। पुत्र-जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में राजा सिद्धार्थ ने प्रभूत दान दिया और राजोत्सव मनाया।

सौधर्म का इन्द्रासन स्वयं प्रकम्पित हो उठा। इन्द्र को अवधिज्ञान से ज्ञात हुआ कि कुण्डग्राम में अन्तिम तीर्थंकर का जन्म हुआ है। वह तत्काल समस्त

---

† 'दृष्टे ग्रहैरर्थनिजत्स्वगतैः शमग्रैलंग्ने यथा पतितकालमसूतराज्ञी ।
चैत्रे जिनं सिततृतीयजया निशान्ते सोमान्हि चन्द्रमसि चोत्तरफाल्गुनिस्थे ।'

—वर्धमान चरित्र, 17158

'चैत्रसितपक्षफाल्गुनिशशांकयोगेत्रयोदश्याम ।
जज्ञेस्वोच्चस्थेषुग्रहेषु सौम्येषु शुभलग्ने ।।
हस्ताश्रिते शशांके चैत्रज्योत्स्ने चतुर्दशी दिवसे ।
पूर्वाह्णे रत्नघटैर्विबुधेन्द्रश्चक्रुरभिषेकम् ।

—पूज्यपाद, निर्वाणभक्ति 5–6.

देव-परिवार को साथ लेकर नृत्य-गान करता हुआ कुण्डलपुर आया और उसने राज-भवन में अपूर्व मंगल उत्सव किया। कुण्डग्राम का कण-कण देवोत्सवों से निनादित और अनुगुंजित हो उठा। इन्द्र ने माता त्रिशला की स्तुति करते हुए कहा—

'माता, तू जगन्माता है, तेरा पुत्र विश्व का उद्धार करेगा। जगत् का भ्रम, अज्ञान दूर करके विश्व का पथ-प्रदर्शक बनेगा। तू धन्य है। इस जगत् में तेरे समान भाग्यशालिनी माता और कोई नहीं है।'

इन्द्र ने सिद्धार्थ राजा का भी बहुत सम्मान किया। तदनन्तर इन्द्राणी उस नवजात बालक को प्रसूतिगृह से बाहर ले आई। इन्द्र उस बाल तीर्थंकर को गोद में लेकर ऐरावत हाथी पर आरूढ़ हो, सुमेरु पर्वत पर गया और शिशु जिनका अभिषेक (स्नपन) किया। अभिषेक के पश्चात् जब इन्द्राणी तीर्थंकर कुमार को पोंछ रही थी तब वे तीर्थंकर के कपाल-जल-बिन्दुओं को सुखाने में असमर्थ-सी रहीं—वे ज्यों-ज्यों जितना-जितना पोंछती थीं, कपोल-जल-बिन्दु त्यों-त्यों अधिक चमकने लगते थे। यह प्रक्रिया होते-होते इन्द्राणी को पर्याप्त आश्चर्य होने लगा परन्तु उनकी भ्रान्ति दूर होने में विलम्ब न हुआ, भ्रान्ति का स्वयमेव निवारण हो गया। अर्थात् वे जल की बिन्दुएं नहीं थीं अपितु इन्द्राणी के आभूषणों की प्रतिबिम्ब मात्र थीं, जो तीर्थंकर के स्वच्छ वदन पर चमक कर जल-बिन्दुओं की भ्रान्ति उत्पन्न कर रही थीं—यत: तीर्थंकर स्वभावत: त्रैलोक्य सुन्दर थे। अभिषेक के अनन्तर इन्द्र ने तीर्थंकर वर्धमान महावीर को सिंह चिह्न से भूषित किया। तीर्थंकर महावीर की प्रतिबिम्ब आज उसी चिह्न से जानी जाती है।[1] चिह्न के सम्बन्ध में प्रतिष्ठातिलक में लिखा है कि यह तीर्थंकर का वंश-रूढ़ चिह्न होता है। तथाहि—

तीर्थंकराणां निजवंशरूढं पृथग्विधं संव्यवहारहेतुं।
यल्लांछनं तत्र कृतार्हदीश बिंबस्ययोग्यं विनिवेशयामि पीठे।
—प्रतिष्ठातिलक, ११।१ (लांछन-स्थापनाम्)

तीर्थंकर के जन्म-पूर्व से ही राजा सिद्धार्थ को वैभव, यश, प्रताप, प्रभाव और पराक्रम अधिक वृद्धि को प्राप्त होने लगे थे और स्वयं बाल तीर्थंकर भी द्वितीया के चन्द्र की भाँति वृद्धि को प्राप्त होंगे अत: उनका नाम वर्धमान रखा गया।[2]

1. 'सिंहहादीणंचिण्हं गोवदिगय तुरग बाणरा कोकं, पउमं णंदावत्तं अद्धससीमयूरसोत्तीया।
गण्डं महिसवराहासाही वज्जाणि हरिणछगलाय, तगर कुसमायकलसा कुम्मुप्पलसंखअहिसिंहा।—तिलो.प. 4।604।605.

2. 'तद्गर्भत: प्रतिदिनं स्वकुलस्य लक्ष्मीं। दृष्ट्वा मुदा विधुकलामिव वर्धमानम्।
सार्धं सुरैर्भगवतो दशमेऽन्हितस्य। श्री वर्द्धमान इतिनाम चकार राजा।। —वर्धमान चरित्र 17।91
'दिन-दिन बढ़ती पदवी जोय। वर्द्धमान कहते सब कोय।। —मनसुखसागर, 78.

चौपई

*जिन बालक पद क्रीड़ा करैं। नर-नारी जन-मन अति हरैं।
पांव अटपटे† जिन भू धरैं। घुटुवन चलन सकल मन हरैं।।
गले माल मुक्ताफल लसैं। कटि करधनी कमर सुभ कसैं।।
हीरकनी-जड़त किंकिनी। रुणझुण चरण होई रव घनी।।
कर पल्लव में मुदरी देई। हिये हरख जन-मन हर लेइ।।

—कवि मनसुखसागर

(बालक वीर जब पाँव-पांव चलने लगे और बाल-क्रीड़ाएँ करने लगे तब वे नर-नारियों का मनोहरण करने लगे। वे पृथ्वी पर अटपटे (इधर-उधर) पैर रखते थे और जब कभी घुटनों के बल दौड़ते थे, तब सब का मन मोह लेते थे। उनके गले में मोतियों की माला, कमर में करधनी, हीरों से जड़ित किंकिनी शोभायमान थी जिनकी रुन-झुन, रुन-झुन गूँज होतीं थी। उनके कर-कमल में अंगूठी शोभित थी। वे सब मानवों के मनों को हर्षित करते थे।)

कुमार में बाह्य पदार्थों को जानने में जैसी ज्ञानज्योति थी, वैसी ही असाधारण ज्ञानज्योति आध्यात्मिक और स्वानुभूति के प्रति भी थी। पूर्व-भव सेउदीयमान क्षायिक सम्यक्त्व उनको था। ऐसी अनेक अनुपम महिमामयी विशेषताओं के वे पुंज थे। ये सब विशेषताएँ उनके वीतरागत्व की प्रतीक थीं। आशाधर सूरि ने लिखा है—

वपुरेव तवाचष्टे भगवन् वीतरागताम्।
न हि कोटरसंस्थेऽग्नौ तरुर्भवति शड्वलः।।

—अनागार धर्मामृत, पृ० ८६२

(हे भगवन्, आपका शरीर ही आपकी वीतरागता को प्रकट कर रहा है। आपके शरीर में वीतराग-भाव-दर्शक चिह्न-गुण विद्यमान हैं, जैसे वृक्ष की सरलता से उसके हरे-भरे रहने का अनुमान किया जाता है—कोटर में विद्यमान अग्निवाला वृक्ष हरा-भरा नहीं रह सकता वैसे ही आपमें (सहज-सुन्दर शरीर में) यदि इन गुणों का अभाव हो तो आपकी शरीरस्थ आत्मा में सम्यक्त्वादि गुणों का अनुमान अथवा प्रादुर्भाव कैसे हो सकता है? आप सम्यक्त्वी हैं, अतः शारीरिक सद्गुणों के पुंज हैं, सम्यक्त्वादि गुणोपेत हैं (यह आपकी असाधारण विशेषता है।)

तीर्थंकर के शरीर का सुन्दर होना स्वाभाविक है, क्योंकि उनके सर्वश्रेष्ठ नामकर्म-तीर्थंकर प्रकृति का उदय है। तीनों लोकों में सर्वोत्तम परमाणुओं से उनके शरीर की रचना होती है, कहा भी है—

---

† बांधें मुठी अटपटे पाय। कैसे वह छबि बरनी जाय।। —पार्श्वपुराण 7।

'यै:शान्तरागरुचिभि: परमाणुभिस्त्वं ।
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत ।
तावन्त एव खलु तेऽप्यणव: पृथिव्यां ।
यत्ते समानमपरं नहि रूपमस्ति ।। —आचार्य मानतुंग, भक्ता. १२

(हे त्रिभुवन के एक मात्र सौन्दर्य-सार, जिन शान्तरस के परमाणुओं से आपका शरीर निर्मित हुआ है, वे परमाणु भूमण्डल पर उतने ही थे। इस विचार का आधार यह है कि जिनाभिषेक के वाद इन्द्र ने वालक का शृंगार किया, उनका वीर नाम रखा गया। उन्हें ऐरावत हाथी पर कुण्डग्राम ले आया गया। तथाहि—

'कंचणकलसणीर ण्हाएविणु, चंदणगोसीरहु चच्चेविणु ।
पुणु सिंगारू कराविउ इंदें, णच्चिउणवरस परमाणंदे ।
वीरणाहु घोसिवि सुरराएं.........।। —नरसेन , वर्धमान कथा ।

(स्वर्ण के कलशों से जलाभिषेक करने के उपरान्त वालजिन तन पर चन्दन और केशर का चर्चन किया। अनन्तर इन्द्र ने भगवान का शृंगार[1] किया और आनन्दित होकर नवरस-पूरित नृत्य आदि किया। इन्द्र ने उनका नाम 'वीर' नाथ घोषित किया। जिन वालक को माता को सौंपकर इन्द्राणी और इन्द्र आदि वापस स्वर्ग लौट गये । कवि मनमुखसागर के शब्दों में—

चौपई

'जिन, जननी के अंके देइ। ताण्डव नृत्य जु शक्र करेइ ।।
नगर महोत्सव तब अति भयो। सुरपति जब निजपुर में गयो ।।
सिद्धारथ नृप मन हरखंत। उत्सव करि कहूँ लहो न अन्त ।।

(इन्द्राणी ने अभिषेक के अनन्तर जिन वालक को जननी त्रिशला की गोद में दिया और इन्द्र ने स्तुतिपूर्वक[2] ताण्डव नृत्य किया। नगर में अत्यन्त विशेष उत्सव

---

1. धृत्वा शेखरपट्टहार पदकं ग्रैवेयकालंबकम्।
केयूरांगदमध्यबंधुरकटीसूत्रं च मुद्रान्वितम् ।।
चंचत्कुंडलकर्णपूरममलं पाणिद्वये कंकणम्।
मंजीरं कटकं पदे जिनपते: श्रीगंधमुद्रांकितम् ।। —आशाधर, पूजापाठ, 15.

(राजकुमार महावीर के सोलह आभूषणों का वर्णन यहाँ प्रस्तुत है— 1. शेखर, 2. पट्टहार, 3. पदकं 4. ग्रैवेयक, 5. आलंबकम्, 6. केयूर, 7. अंगद, 8. मध्यबंधुर, 9. कटी सूत्रं, 10. मुद्रा, 11. कुंडल, 12. कंकण, 14. मंजीरं, 15. कटकं, 16. श्रीगंध।)

2. देवत्वय्यद्यजाते त्रिभुवनमखिलं चाद्यजातं सनाथं। जातो मूर्तोऽद्यधर्म: कुमतबहुतयो ध्वस्तमद्यैव जातम्।
स्वर्मोक्षद्वा: क्वाटं स्फुटमिहर्निवृत्तं चाद्यपुण्याहमाशीर्जातंलोकाग्रचक्षुर्जय जय भगवज्जीव वर्धस्व नन्द। प्रतिष्ठातिलक,917
(हे देव आज आपके जन्म लेने से सम्पूर्ण त्रैलोक्य सनाथ हो गया है, धर्म मूर्तरूप में उपस्थित हो गया है। मिथ्याधर्म कुमतरूपी तम नष्ट हो गया है, स्वर्ग-मोक्ष के बन्द कपाट खुल गये हैं, मैं पुण्यशाली हुआ हूँ। हे लोकाग्रचक्षु भगवन् आप अमर, आनन्दित हों और बढ़ते रहें।)

हुआ और इन्द्र अपने स्थान को चला गया। सिद्धार्थ राजा अत्यन्त प्रसन्न हुए, उन्होंने उत्सव आदि किये, जिनका वर्णन करते कवि अन्त नहीं पा सकता।)

यह समय पूर्ववर्ती तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के २५० वर्ष वाद तथा ईसा से ७९९ वर्ष पहिले का था।[1] तीर्थंकर वर्धमान शुक्लपक्ष को द्वितीया के चन्द्रमा के समान वढ़ने लगे और अपनी वाल-लीलाओं से माता-पिता एवं समस्त परिवार को आनन्दित करने लगे। जन्म से ही उनके शरीर में अनेक अनुपम विशेषताएँ थीं, जैसे उनका शरीर अनुपम-सुन्दर था, शरीर के समस्त अंग-उपांग पूर्ण एवं सटीक थे, कोई भी अंग लेशमात्र हीन, अधिक अथवा छोटा-वड़ा नहीं था। शरीर सुरभित था। पसीना नहीं आता था, महान् बल था। पाचन-शक्ति असाधारण थी, वाणी मधुर थी। ज्योतिष और सामुद्रिक शास्त्र-विहित समस्त १००८ शुभ चिह्न (शंख, चक्र, पद्म, यव, धनुष) आदि से उनका शरीर अंकित था। वे जन्म से ही विशिष्ट अर्थात् अवधिज्ञानी थे। उनके शुभ लक्षणयुक्त सुन्दर-सुडौल शरीर और उनकी वाल-सुलभ लीलाएँ जन-जन को आनंदित करती थीं।

आपके समान कोई अन्य रूप दृष्टिगोचर नहीं होता। यदि कदाचित् वे शान्ति-परमाणु आपकी रूप-रचना के पश्चात् सावशेष होते तो उनसे निमित कोई रूपान्तर दिखाई देता।

तीर्थंकर वर्धमान जन-मन मोहते हुए, विविध वाल-लीलाओं को करते हुए शनैः शनैः वढ़ रहे थे। जव उनकी वय आठ वर्ष की हुई, तव उन्होंने विना किसी अन्य प्रेरणा के ही स्वयं हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाँच पापों का आंशिक त्याग कर अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह-परिमाण रूप पाँच अणुव्रतों को धारण कर लिया[2]।

वालकाल से ही तीर्थंकर की प्रतिभा आश्चर्यकारी थी—वे देवों के साथ विविध प्रकार के कूट प्रश्नोत्तर करते थे और देवगण भी अनुकूल रीति से उन्हें प्रसन्न रखते थे; तथाहि—

---

1. पार्श्वेशतीर्थ सन्ताने पंचाशद्विशताब्दके।
तदभ्यन्तरवर्त्यायुर्महावीरोऽत्र जातवान्॥ —उत्तरपुराण, 27।262.

2. 'स्वायुराद्यष्ट वर्षेभ्यः सर्वेषां परतो भवेत्
उदिताष्टकषायाणां तीर्थेषां देशसंयमः। —गुणभद्राचार्य, उत्तरपुराण, 6।35.
'इह विध आठ वरस के भये। तव प्रभु आप अनुव्रत लये। —पार्श्वपुराण 7।16.

चौपई

सुर बालापन भेष बनाय । जिनवर संग केलि सुखदाय ।।
काव्यकला अरु श्लोक बखान । दृष्टकूट बहुविधि मन आन ।।
अंतर्लपन[1] छन्द उच्चरैं । बहरिलापिका बहुविस्तरैं ।।
सुरसुनि हरष हिये में धरैं । तदनुकूल ह्वै सेवा करैं ।। —कवि मनसुखसागर

(स्वर्ग के देव बालरूप धारण कर जिन (बालकरूप वीर प्रभु) के साथ सुखदायी क्रीड़ा करते थे । वे तीर्थंकर (बालक वीर) के साथ काव्य-कला-छन्द-श्लोक आदि का संभाषण करते थे और उनकी दृष्टि व मन के अनुकूल अन्तर्लाप-बहिर्लाप का विस्तार (वर्णन) करते थे । तीर्थंकर की चर्चा (सम्भाषण) को सुनकर देवगण हर्षित होते थे और महावीर बालक के अनुरूप[2] उनकी सेवा करते थे ।

इस प्रकार तीर्थंकर प्रभु वर्धमान महावीर का काल विविध प्रकार के सौम्य-सुखद वातावरण में व्यतीत हो रहा था । उनके कार्य-कलापों के कारण उनके अनेक नाम भी पड़ गये । उनके नामों में केवल नाम-निक्षेप ही नहीं अपितु तदनुकूल वास्तविक गुण भी कारण थे ।

नामान्तर

'सन्मतिर्महतिर्वीरोमहावीरोऽन्त्यकाश्यप: ।
नाथान्वयो वर्धमानो यत्तीर्थमिह साम्प्रतम् । —धनंजय नाममाला, ११५

सन्मति : श्री वर्धमान तीर्थंकर के असाधारण ज्ञान की महिमा सुनकर संजय और विजय नाम के दो चारण ऋद्धिधारक मुनि अपनी तत्त्व-विषयक कुछ शंकाओं का समाधान करने के लिए उनके पास आये, किन्तु वर्धमान तीर्थंकर का दर्शन करते ही उनकी शंकाओं का समाधान स्वयं हो गया । उन्हें समाधान के लिए कुछ पूछना नहीं पड़ा । यह आश्चर्य देखकर उन मुनियों ने वर्धमान का अपर नाम **'सन्मति'**[3] रख दिया । कहा भी है—

'तस्यापरेद्युरथ चारणलब्धियुक्तौ,
भर्तृयती विजय-संजयनामधेयौ ।
तद्वीक्षणात्सपदिनिमृतसंशयार्थां-,
वानेनतुजंगति सन्मतिरित्यभिख्याम् ।। —उत्तरपुराण ९२।१७

1. तीर्थंकर के गर्भकाल में उनकी माता गूढ़ प्रहेलिका, अन्तर्लाप-बहिर्लापरूपमें देवियों से संवाद करती हैं । बालक के संस्कारों पर उनके गर्भकाल का प्रभाव भी होता है, तथापि—

दोहा—अंतर्लाप पहेलिका, बहिर्लापिका एव ।।
बिन्दुहीन निरओठपद, क्रियागुप्त बहुमेव ।।
इत्यादिक आगम उकत, अलंकार की जान ।।
अर्थगूढ़ गम्भीर सब, समझावैं जिन-मात ।। —पार्श्वपुराण, 5।155-156

2. मनोऽनुकूलं च वयोऽनुकूलं नानाविधं क्रीडनमाचरन्ति । ये शक्र पुत्रा जिन बालकेन……… ।।' —प्रतिष्ठातिलक 9 (कुमारक्रीड़ा) ।
'कन्दुक जल क्रीड़ायंत्र फल पल्लव प्रसूतादि हस्तेषु चतुर्ष्वष्टसु वा कुमारेषु…………… ।' —वही ।

3. 'सन्मति धरी हिये प्रभुधार । सन्मति नाम कहै संसार ।। —मनसुखसागर, 78.

अतिवीर: एक दिन कुण्डलपुर में एक बड़ा हाथी मदोन्मत्त होकर गजशाला से बाहर निकल भागा। मार्ग में आने वाले स्त्री-पुरुषों को कुचलता हुआ, वस्तुओं को अस्त-व्यस्त करता हुआ वह इधर-उधर घूमने लगा। उसको देखकर कुण्डलपुर की जनता भयभीत हो गई और प्राण बचाने के लिए यत्र-तत्र भागने लगी। नगर में भारी कोलाहल मच गया।

श्री वर्धमान अन्य बालकों के साथ क्रीड़ा कर रहे थे, मदोन्मत्त हाथी उधर जा झपटा। हाथी का काल जैसा विकराल रूप देखकर खेलने वाले बालक भयभीत होकर इतस्तत: भागे; परन्तु वर्धमान ने निर्भय होकर कठोर स्वर में हाथी को ललकारा। हाथी को वर्धमान की ललकार सिंह-गर्जना से भी अधिक प्रभावशाली प्रतीत हुई। वह सहमकर खड़ा हो गया। भय से उसका मद सूख गया। तब वर्धमान उसके मस्तक पर जा चढ़े और अपनी वज्र-मुष्ठियों के प्रहार से उसे निर्मद कर दिया।

तब कुण्डलपुर की जनता ने राजकुमार वर्धमान की निर्भयता और वीरता की अत्यन्त प्रशंसा की और उन्हें वह 'अतिवीर' नाम से पुकारने लगी। इस प्रकार राजकुमार का तीसरा नाम 'अतिवीर' प्रसिद्ध हो गया।

महावीर: एक दिन संगम नामक एक देव महान् भयानक विषधर सर्प का रूप धारण करके राजकुमार की निर्भीकता तथा शक्ति की परीक्षा करने आया। जहाँ वर्धमान कुमार अन्य किशोर बालकों के साथ एक वृक्ष के नीचे खेल रहे थे,[1] वहाँ वह विकराल सर्प फुंकार मारता हुआ उस वृक्ष से लिपट गया। उसे देखकर सब बालक



बकरे जैसे मुखवाला संगमदेव जो वर्धमान की निर्भीकता से प्रभावित होकर उन्हें तथा उनके बाल-साथियों को कंधे पर बिठाये नृत्य-विभोर है।
(प्रसंग : चामुंडराय कृत वर्धमान पुराणं, कन्नड़ भाषा, पृष्ठ २९१)

---

1. 'वटवृक्षमथैकदामहान्तं सहडिम्भैरधिरुह्य वर्द्धमानः।
रममाणमुदीक्ष्य संगमाख्यो विबुधस्त्रासयितुं मामसाद ॥ —वर्द्धमान चरित्र, असग महाकवि, 7।9
'अभयात्मतयाप्रहृष्टचेता विबुधस्तस्य निजं प्रकाश्यरूपं।
अभिषिच्यसुवर्णकुम्भतोयैः स महावीर इति व्यधत्त नाम ॥ —उत्तरपुराण, गुणभद्राचार्य, 98
'घोर वीरचर्यातप करैं। महावीर यातैं उच्चरैं। —मनसुखसागर, 77.

बहुत भयभीत हुए। अपने प्राण बचाने के लिए वे इधर-उधर भागने लगे, चीत्कार करने लगे। कुछ तो भय से मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर भी पड़े, परन्तु वर्धमान कुमार सर्प को देखकर रंचमात्र भयभीत न हुए। उन्होंने निर्भयता से सर्प के साथ क्रीड़ा की और उसे दूर कर दिया। राजकुमार वर्धमान की इस निर्भयता को देख देव प्रकट हुआ और उसने उनका नाम 'महावीर' रख दिया।

अविचल ब्रह्मचर्य

राजकुमार वर्धमान जन्म से सर्वांग सुन्दर तो थे ही, जब वे किशोर वय समाप्त कर यौवन में पग रखने लगे, तब उनकी सुन्दरता का क्या कहना? उनके अंग-प्रत्यंग में लावण्य-छटा उमंगें भरने लगीं। उनके असाधारण ज्ञान, बल, पराक्रम, तेज तथा यौवन की वार्ता सर्वत्र प्रसिद्ध हो गई। अनेक राजाओं की ओर से पाणिग्रहण सम्बन्धी प्रस्ताव आने लगे।

कलिंग नरेश राजा जितशत्रु की सुपुत्री यशोदा सब राजकुमारियों में सुन्दर-त्रिलोक सुन्दरी एवं सर्वगुणसम्पन्न कुमारी थीं। अतः राजा सिद्धार्थ और त्रिशला ने वर्धमान का पाणिग्रहण उसके साथ करना चाहा।* वे चाहते थे कि उनका पुत्र आदि तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा प्रवर्तित गृहस्थ-मार्ग का अनुसरण करे। यह सब चाहते हुए भी वे कुमार के अलौकिक व्यक्तित्व को भी नहीं भूल पाते थे। कभी-कभी वे बड़े असमंजस में पड़ जाते और सोचने लगते—

'अज्जवि विसय आलिण पयासइ, अज्जसकामालाव ण भासइ।
अज्जवि तिय रूवेंणउ भिज्जइ, अज्ज अणंग कणिहि ण दलिज्जइ।
णारिकहारासि मणु ढोवइ, णउ सवियारउ कहव पलोवइ। —रयधूकवि

(वर्धमान महावीर युवा हो गये हैं, तथापि आज भी उनके हृदय में विषयों की अभिलाषा प्रकट नहीं हो रही है, वे आज भी काम-युक्त वाणी नहीं बोलते हैं, आज भी उनका मन स्त्रियों के कटाक्षों से नहीं भिद रहा है, आज भी काम की कणिका उन्हें दलन नहीं कर रही है, स्त्रियों की कथाओं में उनका मन रस नहीं ले रहा है और न वे विकार-भाव से किसी स्त्री की ओर देखते ही हैं—आदि।)

यौवन के समय स्वभाव से नर-नारियों में काम-वासना का प्रबल वेग से संचार हो जाता है। उस काम-वेग को रोकना साधारण मनुष्य के सामर्थ्य से बाहर हो जाता है। मनुष्य अपने प्रबल पराक्रम से महान् बलवान् वनराज सिंह को, भयानक विकराल गजराज को वश में कर लेता है, महान् योद्धाओं की विशाल सेना पर विजय

---

* 'यशोदयायां सुतया यशोदया पवित्रया वीर-विवाह मंगलम्।
अनेक कन्या परिवारयारुहत्समीक्षितुं तुंग मनोरथं तदा॥ —हरिवंश पुराण, 66|8.

प्राप्त कर लेता है; किन्तु उसे कामदेव पर विजय पाना कठिन हो जाता है। ससार में पुरुष-स्त्री, पशु-पक्षी आदि समस्त जीव कामदेव के दास बने हुए है। इसी कारण नर-नारी का मिथुन काम-शान्ति के लिए जीवन-भर विषय-वासना का क्रीड़ा बना रहता है। उस अदम्य कामवासना का लेशमात्र भी प्रभाव क्षत्रिय नवयुवक राजकुमार वर्धमान के हृदय पर दृष्टिगोचर न हुआ।

जब मोह मे आक्रान्त पिता ने वीर कुमार के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखा[1] तब वर्धमान ने कहा—'संसार में सुख नहीं। गृहस्थाश्रम बंधन है, पर से उत्पन्न होने वाले, मल-मूत्रादि को प्रवाहित करने वाले, क्षण-क्षण में सैकड़ों बाधाओं से व्याप्त और प्रारम्भ में मधुर दिखने वाले इस इन्द्रिय-सुख को कौन गुणी पुरुष सेवन करना चाहेगा? संसार में परिभ्रमण करते हुए इसने अनन्त जन्म, जाति और वंशों को ग्रहण कर-करके छोड़ा है। जगत् में कौन-सा वंश सदा नित्य रहा है और कौन-कौन से कुल की सन्तान, माता, पिता और प्रियजन नित्य बने रहे हैं? मनुष्य किस-किसके मनोरथों को पूरा कर सकता है? इसलिए इस दार-परिग्रह को स्वीकार नहीं करना ही अच्छा है।[2]

पुत्र के उच्च ध्येय, विचार और ब्रह्मचर्य की बात सुनकर राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला कुछ न बोल सके। उन्होंने सोचा—'वर्धमान हमारा पुत्र है, वय में हमसे छोटा है; किन्तु ज्ञान और आचार-विचार में हमसे बहुत बड़ा है, तीर्थंकर है। वह हित-अहित की वार्ता तथा कर्तव्य-कार्यों को हमसे अधिक समझता है। हम उसे क्या समझायें? वह तो संसार में जगत् के जीवों को समझाने, उनका उद्धार करने आया है। वह जिस पुनीत पथ में बढ़ना चाहता है उसमें बाधा डालना हमें उचित नहीं।' वे चुप रह गये और उन्होंने कलिंग-नरेश जितशत्रु की कुमारी यशोदा का पाणिग्रहण-प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया और कुमार को अपलक नेत्रों से देखते रहे।[3]

---

1. 'पुरिसह तिरिय मुक्कुधकुमारउदेवहंहियइ दुल्लहो। वंमुप्पत्ति जेनकुलबड्ढइधरुसंसार बल्लहो॥
—नरसेन, वर्द्धमान कथा

2. 'परसंभउ पवहिय संभउ, खण-खण वाहासय-सहिउ।
आरंभे महुरउ इंद्रियसुहधुउ, कोणरुसेवइगुण महिउ॥
संसारि भमतइं जाइं जाइं, गिण्हियइं पमेल्लिय ताइं ताइं।
केत्तियइं गणेसमि आसिवंस, णिच्चच्चोज जगि लद्धसंस।
केत्तियंइ भणमि कुल-संतईउ, जणणी-जण्णइ पिय सामिणीउ।
पूरेमि मणोरह कासु कासु............॥ —(रइधूकवि)
'ते पूज्यास्ते महात्मानस्त एव पुरुषा भुवि।
ये सुखेन समुत्तीर्णाः साधो योवन संकटात्। —योगवासिष्ठ, 20141.

3 'निशम्य युक्तार्थधुरं पिता गिरं पस्पर्श बालस्य नाबालकं शिरः।
आनन्दसंदोहसमुल्लसद्वपुस्तया तदास्येन्दुमदो दृशः पपुः॥ —वीरोदय काव्य, 8146.
(तीर्थंकर की युक्ति-युक्त वाणी को सुनकर आनन्द-सन्दोह से पुलकित-शरीर पिता ने अपने बालक के नवअलक (केश) वाले सिर का स्पर्श किया और और उनके नेत्र तीर्थंकर के मुखरूप चन्द्र से निकलनेवाले अमृत को पीने लगे।)

यद्यपि वर्धमान के पिता राजा सिद्धार्थ एक सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र गणतन्त्र के शासक थे। उनके नाना चेटक वैशाली गणतन्त्र के प्रमुख नायक थे, अनेक राजाओं के अधीश्वर थे, अतः राजकुमार वर्धमान को सब तरह के राजसुख प्राप्त थे। कोई भी शारीरिक या मानसिक कष्ट उन्हें नहीं था। वे यदि चाहते तो पाणिग्रहण करके वैवाहिक (काम-संबंधी) सुख का उपभोग और कुण्डलग्राम के राजसिंहासन पर बैठकर शासन भी कर सकते थे; परन्तु जिस प्रकार जल में रहता हुआ कमल जल से अलिप्त रहता है उसी प्रकार राजकुमार वर्धमान सर्व सुख-सुविधा सम्पन्न राजभवन में रहकर भी संसार की मोहमाया से अलिप्त रहे। वे अखण्ड बाल-ब्रह्मचर्य से शोभायमान रहे। ठीक ही है—जिनके ज्ञान में वस्तु-तत्त्व का प्रकाश है, जो संसार के दुःखी प्राणियों को धर्म और सुख-मार्ग बतलाने की भावना रखते हैं वे संसार के क्षणभंगुर विनाशीक प्रपंचों से विरक्त रहते हैं। तीर्थंकर का ब्रह्मचारी रहना ही ठीक था—उनके पूर्व भी चार तीर्थंकर ब्रह्मचारी रहे थे।* महिलाओं में भी प्रजापति आदिनाथ (ऋषभनाथ) की पुत्रियों ने भी विवाह नहीं किया था।

अनिमित्तिक वैराग्य

इस प्रकार कुमार वर्धमान का राजभवन में रहते और वैराग्य-चिन्तवन करते, २८ वर्ष ७ मास और १२ दिन का समय ब्रह्मचर्य-अवस्था में व्यतीत हो गया। एक दिन उन्हें अचानक अपने पूर्वभवों का स्मरण हो आया। उन्हें ज्ञात हुआ कि मैं पूर्वभव में सोलहवें स्वर्ग का इन्द्र था, वहाँ मैं २२ सागर तक दिव्य भोगोपभोगों का आनन्द लेता रहा।

---

* 'वासुपूज्यो महावीरो, मल्लिः पार्श्वो यदुत्तमः
'कुमार' निर्गता गेहात्, पृथिवी पतयोऽपरे॥ —पद्मपुराण, 20167.
'वासुपूज्यस्तथामल्लिर्नेमिः पार्श्वोऽथ सन्मतिः।
कुमाराः पञ्च निष्क्रान्ताः पृथिवीपतयःपरं। —कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पृ० 395
'णेमी मल्ली वीरो कुमारकालम्मि वासुपूज्जो य।
पासो वि यगहिदतवो सेसजिणा रज्ज चरिमम्मि। —तिलोयपण्णत्ती, 41760
'वीरं अरिट्ठनेमि पासं मल्लिं च वासुपुज्जंच।
ए ए मोत्तूण जिणे अवसेसा आसिरायाणो॥
रायकुलेसु वि जाया विसुद्ध वंसेसु खत्तियकुलेसु।
ण य इच्छियाभिसेया कुमार वासम्मि पव्वइया॥ —आवश्यक निर्युक्ति, 221–222.
(आगमोदय समिति प्रकाशन, सम्पादक सागरानन्दसूरि)

'कल्पसूत्र के पूर्ववर्ती किसी सूत्र में महावीर के गृहस्थाश्रम का अथवा उनकी भार्या यशोदा का वर्णन हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ।' —श्रमण भगवान् महावीर, श्री कल्याणविजय, पृ. 12.

'यशोदा जिस पर्वत पर दीर्घकाल तक तपस्या करके स्वर्ग को गई, वह पर्वत कुमारी पर्वत के नाम से प्रसिद्ध हुआ। (तेरसमे च वसे सुपवत विजयचके कुमारी पवते अरहयते। (खारवेल शिलालेख, पृ. 14)
(प्रस्तावना, वीरोदय काव्य, सं.-हीरालाल, सिद्धांतशास्त्री)

'स्त्री पाणिग्रहण राज्याभिषेकोभयरहिता इत्यर्थः; अर्थात्-महावीर, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ, मल्लिनाथ और वासुपूज्य ये पाँच तीर्थंकर ऐसे हुए जिनका स्त्री-पाणिग्रहण भी नहीं हुआ और राज्याभिषेक भी नहीं हुआ॥' (कुन्दकुन्द और सनातन जैनधर्म; पृ. 87; निर्युक्ति टिप्पण, जैन साहित्य और इतिहास, पृ. 572.)

उससे पूर्व भव में मैंने संयम धारण करके षोडशकारण भावनाओं* द्वारा तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया था; जिसका उदय इस भव में केवलज्ञान रूप में होनेवाला है। इस समय संसार में धर्म के नाम पर पाप और अत्याचार फैलते जा रहे हैं, अत: पाप और अज्ञान को दूर करना भी आवश्यक है। जब तक मैं संयम ग्रहण न करूँगा, तब तक आत्मशुद्धि नहीं कर सकूँगा और जब तक स्वयं शुद्ध-बुद्ध न बन जाऊँ, तब तक विश्व-कल्याण भी नहीं कर सकता। अत: मोह-ममता की कीचड़ से बाहर निकलकर मुझे आत्म-विकास करना चाहिये।

तीर्थंकर वर्धमान का यह वैराग्य अनिमित्तिक था। वे स्वयंबुद्ध-स्वयंभू थे। उन्हें किसी गुरु के पास अथवा किसी पाठशाला में पढ़ने नहीं जाना था। सभी तीर्थंकरों के किसी विषय में कोई भी गुरु नहीं होते। वे स्वयं ही त्रैलोक्य के गुरु होते हैं। वैराग्य भी उन्हें स्वयं होता है। शास्त्रों में वैराग्योत्पत्ति के दो कारण माने हैं: (१) अनिमित्तक (२) निमित्तजन्य। तीर्थंकरों के वैराग्य में पर-सम्बोधन विधि न होने से सभी तीर्थंकरों के वैराग्य अनिमित्तक ही हैं। जिन तीर्थंकरों को सनिमित्तक वैराग्य शास्त्रों में निर्दिष्ट है, उनमें बाह्य पदार्थादि के चिन्तवन, उनके वास्तविक रूपों का विचार आदि को (निमित्त की दृष्टि से) प्रधानता दी गई है। जैसे नीलांजना के नृत्य में नीलांजना का विलय होना आदि। वस्तुत: नीलांजना का विलय तीर्थंकर के स्वयं के ज्ञान की उपज थी और वह ज्ञान उन्हें स्वयं ही (बिना किसी के उपदेश के) हुआ था, ऐसे अनिमित्तक वैराग्य की महिमा जैनेतर साहित्य में

---

* 'दंसणविसुज्झदाए, विणयसंपण्णदाए, सीलव्वदेसु, णिरदिचारदाए, आवासएसु अपरिहीणदाए, खणलवपडिबुज्झणदाए, लद्धिसंवेगसपण्णदाए, जधा, थामे तथा तवे साहूणं, पासुअपरिचागदाए साहूणं, समाहि संधारणाए साहूणं, वेज्जावच्चजोगजुत्तदाए, अरहंत भत्तीए, बहुसुदभत्तीए, पवयणभत्तीए, पवयणवच्छलदाए, पवयणप्पभावणदाए, अभिक्खणं अभिक्खणं णाणोवजोगजुत्तदाए, इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति।

—बंधसामित्तविचय 7, सु. 41

(दर्शनविशुद्धि, विनयसंपन्नता, निरतिचारशीलव्रत, आवश्यक परिहार, क्षणलव प्रतिबुद्धता, संवेगसंपन्नतालब्धि, तपस्वी साधु की वैयावृत्ति, आचार्य की वैयावृत्ति, त्यागवृत्ति, साधुओं की समाधि (संगति), अरहंत-भक्ति, बहुश्रुत-भक्ति, प्रवचन-भक्ति, प्रवचन-वात्सल्य, प्रवचन-प्रभावना और अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग इन सोलह कारण भावनाओं से तीर्थंकर नाम-गोत्र कर्म का बन्ध होता है।)

'विसयविरत्तो समणो छद्दसकारणाइं भाऊण।
तित्थयरणामकम्मं बंधइ अइरेण कालेण॥

—कुन्दकुन्द, भावपाहुड, 719.

(विषयों से विरक्त श्रमण सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन करी, उनकी भावना करने से शीघ्र ही तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध कर लेता है।)

विशद रूप में गायी गई है।* तीर्थंकर वर्धमान महावीर की दृष्टि जब अपने पूर्वभव की विभूति और उसके अपने से संबंध-विच्छेद होने पर पड़ी तब उन्हें संसार असार दिखने लगा और वे विरक्त होने लगे।

चिन्तन-अनुचिन्तन

कुमार वर्धमान महावीर राजभवनों में अपना कुमारकाल बिता रहे थे। वैवाहिक बन्धन तो वे अस्वीकार कर ही चुके थे। उनके पूर्व-संस्कारों ने उनकी विचार-सरणी को प्रशस्त बनाने में पर्याप्त सहायता की। वे कभी संसार की नित्यता का विचार करते, कभी जीव के पर-सहाय के अभाव पर। जीव अकेला ही संसार-भ्रमणरूप जन्म-मरण करता है, इसका कोई साथी नहीं होता। संसार बहुत बड़ा है। इसमें जीव का भ्रमण अनादि-कर्म-परम्परा के निमित्त से होता रहता है—वह स्वयं अपने-आप ही कर्मों से बंध को प्राप्त हो रहा है। भव-भव में प्राप्त होने वाले माता-पिता-बन्धु आदि उसी भव में, जब तक उनकी आयु है, इस जीव के साथ दिखाई देते हैं। जब इस जीव की अथवा उनकी आयु पूर्ण हो जाती है, छोड़ जाते हैं, अथवा अशुभोदय से वे जीवित भी साथ छोड़ देते हैं। साधारणतया मानवादि शरीर अनेक अपवित्र पदार्थों से निर्मित अपवित्रताओं का पुंज है। इससे मोह करना जीव की अज्ञानता का ही परिचायक है। मन-वचन-काय जैसे-जितने शुभ-अशुभ तीव्र-मन्द मात्रा में सक्रिय होते हैं, तदनुसार इस जीव के प्रति, कार्माण वर्गणाएँ सम्मुख होती है—इसे आस्रव कहते हैं। इन्हीं कार्माण वर्गणाओं की स्थिति कषायों के अनुसार बन्ध-कर्मरूप हो जाती है और जोव प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबंध को प्राप्त होता है। मन, वचन, काय की शुभ-अशुभ क्रिया रोकने पर कर्म-आगमन रुक जाता है; अर्थात् संवर होता है। कर्म-स्थिति पूरी होने पर अथवा तप द्वारा उनके आत्मा से पृथक् कर देने पर उन कर्मों की निर्जरा हो जाती है। धर्म वस्तु का स्वभाव और कर्तव्य कर्म है। इससे ही कर्म-निर्जरारूप मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। जीव को चाहिये कि वह चौदह राजू प्रमाण लोक-त्रसनाड़ी में भ्रमण से अपने को बचाये, क्योंकि जीव इस लोक में अनादि-काल से अज्ञानवश भ्रमण कर रहा है—इसे शाश्वत सुख की प्राप्ति नहीं हो रही है। जीव का स्वभाव निर्मल, शुद्ध और सच्चा ज्ञान है। इसे चाहिये कि उसकी प्राप्ति का उपाय करे।

---

* निर्निमित्तमिदं चारु वैराग्यमरिमर्दन:।' —योगवसिष्ठ, 2।11।20.
(हे अरिमर्दन, अनिमित्तक वैराग्य चारु उत्तम कोटि का होता है।)
'तवाऽनिमित्तं वैराग्यं सात्विकं स्व:विवेकजम्।' —वही, 2।11।21.
(हे राम तुम्हारा वैराग्य सात्विक है, क्योंकि वह अनिमित्तक और स्व-विवेक से उत्पन्न है।)
'ते महान्तो महाप्राज्ञा निमित्तेन विनैव हि।
वैराग्यं जायते येषां तेषां ह्यमल मानसम्।' —योगवसिष्ठ, 2।11।24.
(जिनको निर्निमित्तक वैराग्य उत्पन्न होता है, वे पुरुष महान् हैं, महाप्राज्ञ हैं। और वे ही निर्मल मन वाले हैं।)
'अथ सन्मतिरेकदाऽनिमित्तं, विषयेभ्यो भगवान्भूद्विरक्त:।' —असग., व. च., 7।102.

द्वादशानुप्रेक्षाएँ

उक्त प्रक्रिया को जिन-शासन में द्वादशानुप्रेक्षा* या बारह भावनाओं के नाम से स्मरण किया गया है, प्रत्येक मुमुक्षु, चाहे वह मुनि हो अथवा श्रावक, इन भावनाओं पर अपने को स्थिर करने—इनका बारम्बार चिन्तवन करने से शाश्वत सुख की ओर-वैराग्य मार्ग की ओर-बढ़ सकता है। इन भावनाओं का वर्णन जैन शास्त्रों में विस्तृत रूप से (प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, महाराष्ट्री, गुजराती आदि) सभी भाषाओं में उपलब्ध होता है। यहाँ प्राकृत के कुछ पद्य उद्धृत किये जाते हैं—

'मोक्खगया जे पुरिसा अणइकालेण वारअणुवेक्खं ।
परिभाविऊण सम्मं पणमामि पुणो पुणो तेसिं ।।

(जो पुरुष अनादिकाल से बारह अनुप्रेक्षाओं का अच्छी तरह चिन्तवन कर मोक्ष गये हैं, मैं उन्हें बार-बार-प्रणाम करता हूँ।)

अनित्यभावना : 'जलबुब्बुदसक्कधणुखणरुचिघणसोहमिव थिरं ण हवे ।
अहमिंदट्ठाणाइं बलदेवप्पुहुदिपज्जाया ।।

(अहमिन्द्र के पद और बलदेव आदि की पर्यायें जल के बबूले, इन्द्रधनुष, बिजली और मेघ की शोभा के समान अस्थिर है।)

अशरण भावना : 'मणिमंतोसहरक्खा हयगयरहओ य सयलविज्जाओ ।
जीवाणं ण हि सरणं तिसु लोए मरणसमयम्हि ।।

(मरण के समय तीनों लोकों में मणि, मंत्र, औषधि, रक्षक, सामग्री, हाथी, घोड़े, रथ और समस्त विद्या किसी जीव को बचाएँ नहीं सकतीं।)

संसार-भावना : 'पंचविहे संसारे जाइजरामरणरोगभयउरे ।
जिणमग्गमपेच्छंतो जीवो परिभमदि चिरकालं ।।

(जिन-मार्ग की प्रतीति किये बिना यह जीव जन्म, जरा, मरण, रोग और भय से परिपूर्ण पंच-परिवर्तन रूप संसार में चिरकाल से घूम रहा है।)

एकत्व भावना : 'एक्को करेदि कम्मं एक्को हिंडदि य दीह संसारे ।
एक्को जायदि मरदि य तस्स फलं भुंजदे एक्को ।।

(जीव अकेला ही कर्म करता है, अकेला ही दीर्घ संसार में भ्रमण करता है, अकेला ही जन्म-मरण करता है, और अकेला ही कर्मों के फल भोगता है।)

---

* 'अनित्याशरणं संसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जराधर्मलोकबोधिदुर्लभतत्वस्वाख्यानुचिन्तमनुप्रेक्षाः।'
—तत्त्वार्थसूत्र, 9.7.

अन्यत्व भावना : 'अण्णं इमं सरीरादिगं एवं होज्ज बाहिरं दव्वं ।
णाणं दंसणमादा एवं चिंतेहि अण्णत्तं ।।

(शरीरादिक जो यह बाह्य द्रव्य है, वह सब मुझसे अन्य है, ज्ञान-दर्शन ही आत्मा है, इस प्रकार अन्यत्व भावना का चिन्तवन करो ।)

अशुचिभावना : 'रसरुहिरमांसमेदट्ठिमज्जसकुलं पुत्तपूयकिमिबहुलं ।
दुग्गंधमसुचि चम्ममयमणिच्चमचेयणं पडणं ।।

(यह शरीर रस, रुधिर, माँस, चर्बी, हड्डी तथा मज्जा से युक्त है, मूत्र, पीव और कीड़ों से भरा है, दुर्गन्धित है, अपवित्र है, चर्ममय है, अनित्य है, अचेतन है और पतनशील नश्वर है ।)

आस्रव-भावना : 'मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य आसवा होंति ।
पण पण चउ तियभेदा सम्मं परिकित्तिदा समए ।।

(मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये आस्रव हैं । इनके क्रमशः पाँच, पाँच, चार और तीन भेद हैं जिन्हें शास्त्रों में भलीभांति कहा गया है ।)

संवर भावना : 'चलमलिनमगाढं च वज्जिय, सम्मत्तदिढकवाडेण ।
मिच्छत्तासवदारणिरोहो होदित्ति जिणेहि णिदिट्ठं ।।

(चल, मलिन और अगाढ़ दोष को छोड़कर सम्यक्त्वरूपी दृढ़ कपाटों के द्वारा मिथ्यात्वरूपी आस्रव द्वार का निरोध हो जाता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ।)

निर्जरा भावना : 'बंधपदेसग्गलणं णिज्जरणं इदि जिणेहि पण्णत्तं ।
जेण हवे संवरणं तेण दु णिज्जरणमिदि जाण ।।

(बंधे हुए कर्म-प्रदेशों का गलना निर्जरा है, ऐसा जिनेन्द्र तीर्थंकर ने कहा है । जिस कारण से संवर होता है, उसी कारण से निर्जरा होती है ।)

धर्म भावना : 'एयारसदसभेयं धम्मं सम्मत्त पुव्वयं भणियं ।
सागारणगाराणं उत्तमसुहसंपजुत्तेहिं ।।

(उत्तम सुख से सम्पन्न जिनेन्द्र तीर्थंकर ने कहा है कि गृहस्थों तथा मुनियों का वह धर्म क्रम से ग्यारह (प्रतिमा) और दश भेदों से युक्त है तथा सम्यग्दर्शन-पूर्वक होता है ।)

लोक भावना : जीवादिपयट्ठाणं समवाओ सो णिरुच्चए लोगो ।
तिविहो हवेइ लोगो अहमज्झिमउड्ढभेएण ।।

(जीव आदि पदार्थों का जो समूह है वह लोक कहा जाता है । अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक के भेद से लोक तीन प्रकार का होता है ।)

बोधि-दुर्लभ भावना : 'उप्पज्जदि सण्णाणं जेण उवाएण तस्सुवायस्स ।
चिंता हवेइ बोहो अच्चंतं दुल्लहं होदि ॥

(जिस उपाय से सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है, उस उपाय की चिन्ता बोधि है, यह बोधि अत्यन्त दुर्लभ है ।)

वस्तुतः इस जीव को बोधि (ज्ञान) होना अत्यन्त दुर्लभ है । जब किसी जीव के ये हो जाती है तब वह वस्तु-तत्त्व का जानकार हो जाता है और फिर संसार में उसे रुचि नहीं रहती । वह सर्व प्रकार के संग (परिग्रह) के परित्याग पर लक्ष्य करता है । क्षणमात्र में ही उसका मोह विलीन हो जाता है । अतः इस दुर्लभ भावना की प्राप्ति का उपाय करना चाहिये । कविवर भूधरदास जी कहते हैं—

'धन-कन-कंचन-राजसुख सबहिं सुलभ करि जान ।
दुर्लभ है संसार में एक जथारथ ज्ञान ।

(संसार में धन-धान्य, सुवर्ण और राजसुख तो सहज (मिथ्यात्व में भी) प्राप्त हो सकते हैं । मिथ्यात्वी जीव नव ग्रैवेयक के सुखों तक को प्राप्त कर सकता है, परन्तु संसार में सम्यक् (सच्चा आत्मसुख-प्रापक) ज्ञान, बिना सम्यग्दर्शन के हुए नहीं हो सकता ।)

बोधि अर्थात् सम्यग्ज्ञान

उपनिषद् की भाषा में कोई धीर पुरुष ही बहिर्वृत्ति को रोककर अन्तःचक्षुओं (ज्ञान) से आत्मा को देख पाता है [1] ऐसा धीर पुरुष सम्यग्दृष्टि ही हो सकता है । सम्यक् ज्ञान का नाम 'बोधि' है और उसका सम्बन्ध आत्मस्वभाव-यथातथ्य जानने से है । जो ज्ञान, पदार्थों के यथार्थ (नग्न) स्वरूप को प्रकट नहीं कर सकता, जिसकी वृत्ति पदार्थ के विकृत रूप अथवा उसके जानने में है, वह ज्ञान नहीं, अपितु कु-ज्ञान, मिथ्या ज्ञान है, संसार में भ्रमण कराने वाला है । खेद है, आज के विज्ञानयुग में जबकि मानव का मस्तिष्क चन्द्र और मंगल लोक आदि की खोज में तत्पर है, तब वह अपने में ही आच्छन्न शक्ति का अन्वेषण नहीं करता । यदि यह क्षण-मात्र को भी अपनी ओर दृष्टि-पात करे, अपने यथार्थ स्वरूप को देखे, तो इसका सहज ही उद्धार हो जाए, इसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाए, इसे बाह्य की चिन्ता न रहे ।

चिन्ता सजीव को, चिता निर्जीव को

इस जीव को पर की चिन्ता करते-करते युग बीत गये, इसके हाथ कुछ न लगा । बल्कि यह चिन्ताओं में जलता रहा, उनसे कृश हो गया । चिन्ता और चिता में बड़ा अन्तर है । एक सजीव को भस्म करती है, दूसरी निर्जीव को; परन्तु अज्ञान और मोह के वशीभूत

1. 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ्. पश्यति नान्तरात्मन् ।

प्राणी जीते जलने का ही प्रयत्न श्रेष्ठ समझता है और चिन्ता करता है। चिन्ता के वशीभूत समस्त विश्व है। केवल वे ही जीव भाग्यशाली हैं, जिन्होंने इसे वश में कर लिया हो, कहा भी है—

'चिन्ता बाँध्यो सकल जग, चिन्ता किनहुँ न बद्ध।
जो नर चिन्ता वश करहिं ते मानुस नहिं सिद्ध ।।

वैराग्य-संवर्धन

कुमार वर्धमान के अन्तस्तल में जाग्रत भावना 'सर्वकर्मविप्रमोक्ष' का द्वितीय चरण था। प्रथम पग तो वे सोलहकारण भावनाओं द्वारा ही बढ़ा चुके थे। अब तो उन्हें पूर्ण ज्ञान और पूर्ण चारित्र की प्राप्ति करनी थी। वे गृहवास त्यागने का विचार ही कर रहे थे कि लोकान्तिक देव आ उपस्थित हुए। उन्होंने कुमार की वैराग्यभावना को समर्थन दिया। वे बोले—

चौपई

'धनि विवेक यह धन्य सयान। धनि यह औसर दयानिधान ।।
जान्यो प्रभु संसार असार। अथिर अपावन देह निहार ।।
उदासीन असि तुम कर धरी। आज मोह सेना थरहरी ।।
धरिये देव महाव्रत भार। करिये करम-शत्रु संहार ।।[1]
हो जिन तुम जगतारनहार। तुम बन हो इह करैं विचार ।।
धर्म जिहाज प्रकाशन वीर। जग-जलनिधि तुम तारनतीर ।।
तुम बिन जगत जीव दुख लहै। लौकान्तिक सुरथुति इमि कहैं ।।[2]

ये सब प्रक्रिया (तीर्थंकर के लिए) उपचार मात्र है। लोक में प्रस्तावों के समर्थन की परिपाटी इसी क्रिया का प्रतिरूप है। अन्तर केवल इतना ही है कि जब यहाँ प्रस्ताव-समर्थन से प्रस्तावक को बल मिलता है, तब तीर्थंकर की विचार-सरणि को दृढ़ करने में मात्र देवों का नियोग पूरा होता है। तीर्थंकर तो विचार के स्वयं धनी हैं, किसमें सामर्थ्य है जो अनन्त: बलशाली को बल दे सके, सूर्य को दीपक दिखा सके ?

ज्ञान-ज्योति प्रज्वलित

लौकान्तिक देवों के जाने के बाद, जब कुमार वर्धमान के माता-पिता को कुमार की विरक्ति का परिज्ञान हुआ, वे बड़ी चिन्ता में पड़ गये, उनमें मोह जाग उठा। वे पुत्र-स्नेह में विह्वल हो गये। उनके हृदय में विचार आया कि राज-सुख में पला हुआ हमारा पुत्र वन-पर्वतों में नग्न रहकर सर्दी, गर्मी के कष्ट किस प्रकार सहन करेगा ?

---

1. पार्श्वपुराण, 7।10–12, 17.
2. जगसुखसागर, 63–64,

वन-पर्वतों की कंटीली-कंकरीली भूमि पर अपने कोमल नग्न पैरों से कैसे चलेगा ? नंगे सिर धूप, ओस और वर्षा में कैसे रहेगा ? कहाँ कठोर तपश्चर्या और कहाँ हमारे पुत्र का कोमल शरीर ? आदि प्रसंगों को सोचते-सोचते माता त्रिशला तो मूर्च्छित ही हो गईं । क्यों न हों ? आखिर, माता का हृदय ही तो है, जग में ऐसी कौन-सी माता होगी जो अपने पुत्र-वियोग में दुःखी न होती हो—सभी को दुःख होता है । अपने प्रिय वालक को अपने से अलग जाता हुआ देखकर वन्य और दीन-हीन प्राणी हरिणी भी सिंह का प्रतिकार करने का साहस करती है ।

ज्यों मृगि निजसुत पालन हेत,
मृगपति सन्मुख जाय अचेत ।[1]

फिर माता त्रिशला तो सामर्थ्यशीला और तीर्थंकर की माता थीं । वे कैसे अपने पुत्र को अपने से पृथक् करना पसन्द करतीं ? उनका अचेत होना स्वाभाविक था ।

उपचारों के अनन्तर जव माता सचेत हुईं, तीर्थंकर-परिवार और नगरवासी एकत्रित हुए, तव कुमार ने उन्हें संसार की असारता का दिग्दर्शन कराते हुए उनसे अपने वन जाने की वात कही । और कहा कि मुझे श्रमण दिगम्वर मुनि वनने की आज्ञा दीजिये ; क्योंकि इस वृत्ति (वेश)[2] को धारण किये विना मुक्ति नहीं है और मुक्ति के विना जीव का कल्याण नहीं है, आदि ।

वाल ब्रह्मचारी कुमार का ऐसा करना उचित ही था । उन्हें आगे का मार्ग भी खोलना था और आदि तीर्थंकर से चली-आती परम्परा का निर्वाह भी करना था । दीक्षा के भी अपने नियम हैं, उनमें से एक कुटुम्ववर्ग आदि से अनुमोदन लेना भी है जिसका शास्त्रों में विधान भी किया गया है । वहाँ लिखा है कि प्रभु राजा आदि और ज्ञातृ-वर्ग से आज्ञा लेकर अन्तरंग-वहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रहों को छोड़कर नग्न दिगम्बर मुनि बन गये ।[3] उन्होंने कहा—'आप हमारे इस पुद्‌गलमय शरीर के जनक तथा जननी हैं, हमारी आत्मा आपके निमित्त से उत्पन्न नहीं हुई है । हमारी चैतन्यमय आत्मा

1. 'प्रीत्यात्मवीर्यमविचार्यमृगीमृगेन्द्रं ।
नाऽभ्येति किं निजशिशो परिपालनार्थम् । —भक्तामर स्तोत्र (मानतुंगाचार्य) ।

2. 'ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइवि होइ तित्थयरो ।
णग्गो वि मोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ।। —सुत्तपाहुड़ 33.
'भाव-विसुद्ध-निमित्तं वाहिरगंथस्स कीरए चाओ । —भावपाहुड, 3.

3. 'आपिच्छ बन्धुवग्गं विमोइदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं । —प्रवचनसार
'आपृच्छ्यपितृपुत्रादीन् परिवर्गं च संश्रितम् ।'
'आपृच्छ्च्छ्य ज्ञातिवर्गं च राजकं च नतं विभुः ।
त्यक्त्वांतर्बहिः संगं संयमं प्रतिपन्नवान् । —हरिवंश, 9185197

अनादि निधन है, यह आप दोनों भलीभाँति जानते हैं। आज हमारी आत्मा में ज्ञान-ज्योति अज्ञान-भाव को दूर कर प्रदीप्त हुई है। वह आत्मा अपने अनादि जनक के समीप जाना चाहती है। इस कारण हम आपसे आज्ञा चाहते हैं कि आप हमारी आत्मा को छोड़ दें।[1]

तीर्थंकर कुमार की ज्ञानमयी दिव्य वाणी को सुनकर माता त्रिशला और परिवार के ज्ञान-नेत्रों के खुलने और मोह-तम के विलय में देर न लगी। जैसे मेघाच्छन्न आकाश में सूर्य की प्रभा अप्रकाशित रहती है—लोगों की दृष्टि में नहीं आती और प्रवल वायुवेग से घनपटलों के अस्त-व्यस्त होने पर उससे लोक प्रकाशित हो उठता है, वैसे ही कुमार वर्धमान की दिव्यवाणी से माता त्रिशला और परिवार के ज्ञान-सूर्य के चमकने में देर न लगी। उनके मोहरूपी वादल पूर्णतया छँट गये। उन्हें प्रसन्नता एवं गौरव का अनुभव होने लगा। उनका पुत्र, उनका ज्ञातृ वंशज, संसार के अज्ञान-तम को दूर करेगा, संसार का उद्धार और आत्मकल्याण करने का श्रेय प्राप्त करेगा। ऐसा विचार कर सव ने कुमार को दीक्षा-रूपी पुण्यतम कार्य की अनुमति दी और अपना नियोग पूरा किया। वे चिरकाल तक मन-ही-मन गुनगुनाते रहे[2]—

> 'स्त्रीणांशतानि शतशो जनयन्तिपुत्रान्, नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
> सर्वादिशो दधति भानुसहस्ररश्मि, प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम्'।[3]

नारी की महत्ता

जननी, स्त्री (पत्नी) भगिनी, पुत्री आदि शब्द यद्यपि नारी-जाति को इंगित करते हैं तथापि इनमें जैसे व्यवहार की अपेक्षा पारस्परिक भेद है, वैसे ही इनमें साधक और वाधक की भिन्नता भी है। यह आवश्यक नहीं कि सभी सव कार्यों में साधिका हों या सव ही सव कार्यों में वाधिका हों, परन्तु ऐसा भेद होते हुए भी शास्त्रों में नारी-जाति की हेयता को ही प्रमुखता दी गई है। ऐसा क्यों हुआ? ऊहापोह करने पर विदित होता है कि आचार्यों के समक्ष मोक्ष का लक्ष्य रहा है और मोक्ष में स्त्री-परिग्रह प्रमुख रुकावट माना गया है। अतः आचार्यों ने मोक्ष की दृष्टि से नारी को हेय नहीं बतलाकर उसके परित्याग का उपदेश दिया। नारी स्वयं भी मोक्ष नहीं जा सकती और पर को भी वाधक वन सकती है। सांसारिक-धर्मकार्यों में स्त्री को सर्वथा हेय नहीं

---

1. अहोमदीयशरीरजनकस्यात्मन्, अहोमदीयशरीरजनन्यात्मन् नायं मदात्मा युवाभ्यां जनितो भवतीति निश्चयेन युवां जानीतं। तत आपृष्टौ युवाभिममात्मानं विमुंचतं। अयमात्माऽद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिरात्मानमेवात्मनोऽनादि जनकमुपसर्पति। तथा अहो मदीय शरीर बंधुजनवर्तिन आत्मानः अयं मदात्मा न किंचनापि युष्माकं भवतीति निश्चयेन यूयं जानीत तत आपृष्टा यूयं (इमात्मानं विमुंचत)। —सागारधर्मामृत (संस्कृत टीका), पृ. 7।34, पृ. 193
2. भक्तामरस्तोत्र 22; मानतुंगाचार्य।
3. अरहंत चक्कि केसव बल आत्मनेव चारणे पुव्वा।
   गणहर पुलाय आहारगं च न हु भविय महिलाणं। —प्रवचनसोद्धार, 2।35, पृ० 544.

माना गया - इन दोनों में परस्पर समानता ही दृष्टिगोचर होती है। जैसे पुरुष के लिए किन्हीं (दीक्षा, तपस्या आदि) कार्यों में स्त्री-अनुपयोगी (बाधक) है, वैस स्त्री के लिए पुरुष भी बाधक या अनुपयोगी है। हम शास्त्रों की दृष्टि से ही लिख रहे हैं कि ब्राह्मी, सुन्दरी, त्रिशला, चन्दना, अंजना जैसी नारियाँ परम मान्य हैं। माता मरुदेवी और माता त्रिशला की समता किस अन्य माता से की जा सकती है? अत: नारी-सम्मान्य एवं आदरणीय है। हमारे आचार्यों ने भी ऐसा ही कहा है—

'स्त्रीतः सर्वज्ञनाथः[१] सुरनतचरणो जायतेऽबाधबोधस्—
तस्मातीर्थं श्रुताख्यं जन-हितकथकं मोक्षमार्गावबोधः।
तस्मात्तस्माद्विनाशो भवदरिततते: सौख्यमस्माद्विबाधं।
बुद्ध्वेषं स्त्रीं पवित्रां शिवसुखकरणं सज्जनःस्वीकरोति।

—सुभाषित रत्न—सदोह, ९/११

[स्त्री (जाति) से सर्वज्ञ तीर्थंकर पैदा होते हैं, वे देवों से नमस्कृत होते हैं, उनसे (जीवों को) ज्ञान प्राप्त होता है, जिससे जीवों का हित होता है, उनसे मोक्षमार्ग प्रवर्तित होता है और भव-सन्तति का नाश होकर अव्याबाध सुख की प्राप्ति होती है, ऐसी मोक्ष-सुख की कारणभूत स्त्रियों का सज्जन आदर करते हैं। त्रिशला माता धन्य हैं जिन्होंने तीर्थंकर वर्धमान को जन्म दे उनकी वैराग्यवृत्ति को अनुमोदन दिया।]

सन्त चरण जहँ-जहँ धरें, पावन तीरथ होय

कुण्डलपुर और उसके निकटवर्ती तपोवन की भूमि धन्य है, जहाँ तीर्थंकर के चरण पड़े और चरण-रज से जहाँ की धूलि पवित्र हुई। मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी का दिन भी बड़ा पवित्र है जिस-दिन तीर्थंकर (कुमार) की दीक्षा हुई। स्वर्ग के इन्द्र और देवगण का भी बड़ा सौभाग्य-दिन है, जो उन्हें 'जिन' के निष्क्रमण-महोत्सव कराने का सौभाग्य मिला। स्वर्गों में, अन्य लोकों में, योनियों में, विविध सुख सुविधाओं- के विद्यमान होने पर भी संयम धारण-रूप सुख का सर्वथा अभाव है, वे इस संयम को तरसते ही रहते हैं। मुनिपद केवल मनुष्य-भव में ही संभव है, वे पुरुष धन्य हैं जिन्होंने दुर्लभ मनुष्य-भव को पाकर तप और दीक्षा ग्रहण रूप कार्य किया। लोक में ज्ञानी बहुत हैं—तत्ववेत्ता और व्याख्याताओं का भी बाहुल्य मिल सकता है, किन्तु ज्ञान-पूर्वक चारित्र धारण करने वाले विरले ही होते हैं। कहा भी है— 'जे आचरहिं ते नर न घनेरे।'

कुछ लोग जन्म से ही साधु होते हैं, कुछ लोग साधु बन जाते हैं और कुछ को साधु बनाया जाता है। कुमार वर्धमान प्रथम श्रेणी के साधु थे, उनके भावों में वीतरागता विद्यमान थी, केवल बाह्य उपक्रम शेष था, जो अब पूरा हो रहा है। देवोपनीत वस्त्रा-भरण धारे हुए कुमार वर्धमान दैगम्बरी वृत्ति-हेतु वन जाने को तैयार हैं, 'चन्द्रप्रभा'

नामक देव-पालकी उनके सामने है, कुण्डलपुर का आँगन भी महाराजा-राजा-देव और मानवों से व्याप्त है। सब प्रतीक्षा कर ही रहे थे कि वर्धमान कुमार ने पालकी में पाँव रखा और बैठ गये। सब ने हर्ष से जय-जयकार किया और भूमिगोचरी राजाओं ने पालकी को कन्धों पर उठाया। कुछ दूर उसे विद्याधर ले चले, इन्द्र और देवों ने भी इस पुण्य अवसर का लाभ उठाया। इस महिमा का वर्णन करना अशक्य है—

'जिस साहब की पालकी, इन्द्र उठावन हार।
तिस गुनमहिमा-कथन अब पूरन होउ अपार ॥ —पार्श्वपुराण, ७।१२७

चन्द्रप्रभा[1] पालकी धन्य हुई और वह वनखण्ड धन्य हुआ जहाँ तीर्थंकर ने मुनि-वृत्ति धारण की। दिगम्बरी रूप धारण करने का काल उत्तराफाल्गुनि नक्षत्र और मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी[2] भी धन्य हुए। ज्ञातृखण्ड[3] वन में पहुँचकर कुमार वर्धमान पालकी से उतरे। वे वहाँ एक सुन्दर शिला पर विराजमान हुए। कुमार के सम्पर्क से शिला की शोभा में चार चाँद लग गये, वह चमचमा उठी। इन्द्राणी ने उसे रत्नचूर्ण के स्वस्तिक से पहिले ही अलंकृत किया था। कुमार वर्धमान ने अपने समस्त वस्त्राभरण उतारे और नग्न दिगम्बर[4] हो गये। उन्होंने अपने केशों का उत्पाटन (केशलोंच) भी अपने हाथों से किया (पंच मुष्टि लोंच कीना)। लोंच शरीर से मोह त्याग कर एक चिह्न मात्र है। उन्होंने "नमः सिद्धेभ्यः" कहते हुए सिद्धों को नमस्कार कर पाँच महाव्रत धारण किये और सर्व-सावद्य का त्याग कर पद्मासन मुद्रा में आत्म-ध्यानस्थ हो गये—सामायिक में मग्न हो गये। इन्द्र ने केशों को रत्न-मंजूषा में रखा और उसे समुद्र-क्षेपण कर दिया तथा देवों सहित दीक्षा-उत्सव मनाकर अपने धाम को चला गया। सब ने श्रमण दिगम्बर मुनि श्री वर्धमान के दर्शन कर अपने को धन्य माना। वे चाहने और उस दिन की प्रतीक्षा करने लगे जिस शुभ दिन वे भी दिगम्बर वेश धारण कर सकेंगे, क्योंकि दिगम्बरत्व के विना मुक्ति नहीं।

निर्ग्रन्थता : एक निर्मल तथ्य

'निर्ग्रन्थं निर्मलं तथ्यं पूतं जैनेन्द्रशासनम्।
मोक्षवर्त्मेति कर्तव्या मतिस्तेन विचक्षणैः ॥ —सुभा. रत्न-संदोह, ८२८

(निर्ग्रन्थता निर्मल तथ्य है, जैनशासन में इसे पवित्र बतलाया गया है। यह

---

1. 'चन्द्रप्रभाख्य शिविकामधिरूढो दृढव्रतः। —उत्तरपुराण 74।299.
2. उत्तराफाल्गुनीष्वेव वर्तमाने निशाकरे।
कृष्णस्यमार्गशीर्षस्य दशम्यामगमद् वनम् ॥ —हरिवंशपुराण 2।51.
3. 'वीरो ज्ञातृवनेऽश्रयत्। —हरिवंश पुराण, 60।218.
'नाथ : षण्डवनं प्राप्य स्वयानादवरुह्य सः। —उत्तरपुराण 74।302.
'मग्गसिरबहुलदसमीअवरण्हे उत्तराहुणाधवणे।
तदियखवणम्हि गहिदं महव्वदं वड्ढमाणेण। —ति. पण्णति, 4।667.
4. "He went about naked, possessed not even a bowl for collecting food and ate in the hollow of his hands" — Mahavir; p. 7; Amarchand: Jain, cultural Research Society, B. H. U., Varanasi.

निर्ग्रन्थता ही मोक्ष का मार्ग है, इसलिए विद्वानों (वस्तुतत्त्वज्ञाताओं) को निर्ग्रन्थ बनने की दिशा में अपनी बुद्धि को मोड़ना चाहिये।)

वर्धमान उक्त तथ्य से भलीभाँति परिचित थे। वे सच्चे निर्ग्रन्थ हो गये। जहाँ उन्हें किसी ग्रन्थ (परिग्रह) से लिपटे रहना अभीष्ट नहीं था, वहाँ उन्हें किसी ग्रन्थ[1] (शास्त्र और पुस्तक) से भी मोह नहीं था। वे अनन्त (विश्वदृष्टा) ज्ञान के उपासक बनने के पथ पर थे, उन्होंने विश्व-तथ्य को जाना। विश्व के पदार्थों के स्वभाव को परखने--उनमें भेद देखने की उन्हें दृष्टि प्राप्त थी। वास्तव में स्वभाव-दशा की दृष्टि से छहों द्रव्य अपने स्वरूप में हैं--एक में दूसरे के गुण-धर्म नहीं। जब मानव को पदार्थ-परीक्षण में भ्रान्ति होती है--वैपरीत्य होता है, तब वह पर-पदार्थ के स्वरूप को किसी अन्य पदार्थ का स्वरूप मान लेता है, और इस प्रकार अज्ञान में फँस जाता है।

निर्ग्रन्थ, दिगम्बर, मुक्त

निर्ग्रन्थ शब्द जैन शासन का रूढ़ि-शब्द है। यह शब्द परिग्रह-राहित्य के अर्थ में लिया गया है, अर्थात् जो नग्न[2] (स्व-स्वरूप अवस्थित) और रूप अकिंचनता यथा-जातमुद्रा को ग्रहण करते हैं वे निर्ग्रन्थ या दिगम्बर व्यपदेश पाते हैं। बिना इस स्वरूप के धारण किये मुक्ति नहीं। निर्ग्रन्थ और दिगम्बर दोनों शब्द बड़े महत्व के हैं और ये दोनों रूप ही मुक्ति में साधक हैं, क्योंकि इनमें और मुक्ति शब्द में पूरा-पूरा भावसाम्य है। मुक्ति पूर्ण छूटने को कहते हैं और उक्त दोनों पद भी छूटने के प्रारूप हैं। अन्तर मात्र इतना है कि मुक्ति कर्मों से छुटकारे में है और उक्त स्वरूपधारी सांसारिक बाह्य परिग्रहों से छूटे हुए हैं। उनका ध्यान मात्र संयम की रक्षा पर केन्द्रित होता है। उन्हें इन्द्रिय-संयम के लिए किसी बाह्य साधन की आवश्यकता नहीं होती; परन्तु प्राणि-संयम के लिए (उपकरण) मयूर-पिच्छि[3] और कमण्डलु रखने पड़ते हैं। उक्त दोनों उपकरण बाह्य में निर्ग्रन्थ की पहिचान कराने में भी (लोगों को) सहायक होते हैं; अर्थात् जिन पर मयूर-पिच्छि और

---

1. ग्रन्थं कलहं च। —उत्तरा. 8।4

2. 'कंथाकौपीनोत्तरासंगादीनां त्यागिनो।
यथाजातरूपधरानिर्ग्रन्था: निष्परिग्रहा:।। —तैत्ति. आर. प्रपा., 10।63
[वस्त्र (बिस्तर आदि), कोपीन (लंगोट), उत्तरा (दुपट्टा-लुंगी, धोती आदि भी) आदि परिग्रह हैं, इनके त्यागी निष्परिग्रही यथाजात (नग्न) रूप को धारण करने वाले निर्ग्रन्थ हैं।
'आत्मारामश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। —भागवत, 1।7।10
'पहीनलाभसक्कारातित्थियापुथुलद्धिका। पण्डरंगा जटिला च निगंठाऽचेलकादिका।। —दीपवंश (बौद्धग्रंथ), 7।35

3. 'मयूरध्वजधारिस्त्वं कथं चैवेह तिष्ठथ। —पद्मपुराण, 5।13।417
'योगी दिगम्बरो मुण्डो बर्हिपिच्छधरोद्विज:। —पद्मपुराण, 13।33
'ततो ,, ,, ,, । —विष्णु पुराण, 3।18

कमण्डलु हों और यथाजात-दिगम्बररूप हों वे ही निर्ग्रन्थ मुनि होते हैं, ऐसा ग्रन्थों में कहा गया है—

मयूरलिंगीनिर्ग्रन्थो नित्यं केशविलुंचनः ।
अन्तरायविधिप्राज्ञो मलापूरित विग्रहः ।। —काव्यशिक्षा, विनयचन्द्र सूरि, १४७

उत्सर्ग मार्ग; अपवाद मार्ग

उक्त कारिका निर्ग्रन्थ और मयूरलिंगी दोनों का व्यपदेश कर रही है। दिगम्बर रूप के होने में मूल कारण यह है कि आवरण उनके संयम का साधक न हो, वाधक ही वन सकता और वनता है। आवरण से इन्द्रिय-संयम और प्राणि-संयम किसी को भी सहायता नहीं मिलती। संयम का साधन वह होता है जो इन्द्रिय-जय और प्राणि रक्षा में हेतु-भूत हो। ग्रन्थों में उत्सर्ग और अपवाद ऐसे दो मार्गों के नाम भी देखने को मिलते हैं। इनमें उत्सर्ग मार्ग सार्वकालिक और अपवादमार्ग अल्प-कालिक समझने चाहिये। इतना विशेष है कि जव किन्हीं अनिवार्य कारणों (जैसे दुर्भिक्ष, भयानक रोग आदि) मे कोई निर्ग्रन्थ (दिगम्वर) अपनेनियमों के पालन में सर्वथा असमर्थ हो जाए तो वह अपवाद-मार्ग स्वीकार करता है पर इस अपवाद-मार्ग में उसे अपने पद से च्युत होना पड़ता है और वाधक कारणों के परिहार होने पर उसे प्रायश्चित-पूर्वक उत्सर्ग मार्ग में स्थित किया जाता है। यदि अपवाद-मार्ग को सर्वथा, सर्वकाल स्वीकार किया जाए तो वह अपवाद-मार्ग न रहकर उत्सर्ग-मार्ग ही हो जाएगा और निर्ग्रन्थ का रूप ही वदल जाएगा, जोकि ऊपर वतलाये लक्षण से सर्वथा विपरीत और मुक्ति-मार्ग में वाधक सिद्ध होगा।

अप्पाअप्पमि रओ

मुनि मोक्षमार्ग में स्थित होता है। उसके लिए परिग्रह सर्वथा त्याज्य है। वही विद्वान् है और वही अनन्त सुख पाता है, जो परिग्रह से रहित है,[1] दिगम्बर, वातवसन, निर्ग्रन्थ और निरम्बर है :[2] (वीर वर्धमान ने इसी मार्ग का अनुसरण किया। वे स्थिर आसन होकर अपनी चित्तवृत्ति का निरोध कर आत्मस्थ हो गये। ठीक ही है–जव तक मन-वचन और कार्य पर अंकुश न हो, इनकी क्रिया का निरोध न हो तव तक ध्यान नहीं होता; इसीलिए मुनियों-ध्यानियों के लिए एकान्तवास और मन के निरोध का विधान किया गया है। एकान्तवासी मुनि ही मोक्षपद पाते हैं। सांसारिक सुख, सुख नहीं है।[3]

---

1. 'परिग्रहोहि दुःखस्य यद् यत् प्रियतमं नृणाम्।
अनन्तसुखमाप्नोति तद् विद्वान् यस्त्वकिंचनः।। —भागवत, 11।9।1
2. दिगम्बराः वातवसनाः, निर्ग्रन्थाः निरम्बराः।
3. 'न चेन्द्रस्य सुखं किंचित् न सुखं चक्रवर्तिनः।
सुखमस्तिविरक्तस्य मुनेरेकान्तजीविनः। —भागवत माहात्म्य, 4175

'वासे बहूनां कलहो भवेद् वार्ता द्वयोरपि ।
एक एव चरेत्तस्मात्कुमार्या इव कंकणम् ।

(बहु-समुदाय में कलह होता है । यदि दो हों तब भी परस्पर वार्तालाप हो जाता है अतः ज्ञानी (ध्यानी-मुनि) को सदा एकाकी ही रहना चाहिए, जैसे कुमारी कन्या के हाथ में प्रायः एक कंकण होता है; अतः वह शान्त (निःशब्द) रहता है और सुहागिन की अनेक चूड़ियाँ खन-खन शब्द करती रहती हैं ।)

चित्त स्थिर किये बिना ध्यान नहीं । उसमें तो चेष्टा, बोलना और चिन्तवन मात्र भी हेय है । * फिर ध्यानस्थ वर्धमान अपने चित्त को चंचल कैसे रख सकते थे ? उन्होंने मन पर काबू पा लिया था—वे उसे जिस स्थिति में रखते, वह रहता । आखिर, क्यों नहीं ? मन ही तो संसार है, वही रागादि वासनाओं तथा क्लेश का स्थान भी है—

'चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम् ।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते ।।

(रागादि क्लेश वासनामय चित्त को संसार कहते है और जब वही चित्त रागादि क्लेश-वासनाओं से मुक्त हो जाता है, तब उसे भवान्त, अर्थात् निर्वाण कहते हैं; ऐसा लोक में व्यवहार है ।)

निर्ग्रन्थ : संपूर्ण ग्रन्थ-त्याग

वर्धमान एकाकी, चित्तवृत्ति को रोके हुए थे; उनकी आत्मा, आत्मा में स्थित थी, वे किसी परिग्रहरूपी ग्रन्थि से बंधे न थे, नग्न दिगम्बर थे । किसी सम्प्रदाय विशेष के ग्रन्थ भी उन्हें किसी परिधि में न बांध सके । उनकी स्वयं की सत्ता स्वयं में स्वतन्त्र थी, उनका ज्ञान विशद, निर्मल और विश्व के पदार्थों के स्वरूप को समझने वाला था । उन्होंने सब कुछ छोड़ दिया था, वे वास्तविक निर्ग्रन्थ थे । ऐसे निर्ग्रन्थ के जिसे दर्शन हो जाएँ उसे तीर्थ और तप की क्या आवश्यकता ? निर्ग्रन्थों के दर्शन का ही बड़ा माहात्म्य है—दर्शनमात्र से असंख्यातगुणा कर्मनिर्जरा हो जाती है । निर्ग्रन्थों का स्वरूप और माहात्म्य बतलाते हुए विभिन्न स्थानों पर कहा गया है कि—

'संसार दुःख मूलेन किमनेन ममेति यः ।
निःशेषं त्यजति ग्रन्थं निर्ग्रन्थं तं विदुर्जिनाः ।।

—सुभा. संदोह, ८४१

* 'मा चिट्ठह मा जंपह मा चिन्तह किं वि जेण होइ थिरो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे ज्झाणं ।। —आचार्य नेमिचन्द्र, द्रव्यसंग्रह, 56.
(कुछ चेष्टा मत करो, कुछ मत बोलो, कुछ विचार मत करो । आत्मा आत्मा में लीन रहे, यह ध्यान का स्वरूप है ।

(संसाररूप वृक्ष के मूल इस ग्रन्थ (आसक्तिभाव, परिग्रहधारण, रागभाव) से मेरा क्या प्रयोजन है ? ऐसा मानकर जो सम्पूर्ण ग्रन्थ का त्याग करता है, उसे जिनेन्द्रदेव ने निर्ग्रन्थ कहा है ।[1])

नीरागश्छिन्नसन्देहा गलितग्रन्थयोऽनघ ।
साधवो यदि विद्यन्ते किं तपस्तीर्थसंग्रहैः ।।

—योगवासिष्ठ, २।१६।११

(आदि वीतराग, सन्देह-रहित ज्ञानी (अर्थात् सम्यग्ज्ञानी) ग्रन्थ-रहित अर्थात् जिन पर तिल-तुषमात्र परिग्रह नहीं हैं, और निष्पाप (निर्दोष) साधु-मुनि विद्यमान हैं तो तप करने और तीर्थ पर जाने के समान हैं—ऐसे साधु ही साक्षात् तप-तीर्थ हैं) । ऐसे निर्ग्रन्थ परम दिगम्बर वीतरागी मुनि-श्रीवर्धमान को हमारे शत-शत वन्दन, नमोऽस्तु और प्रणाम हैं ।

कूलग्राम में प्रथम आहार

आहार करना संसारी जीवों का स्वभाव माना जाता है । मुक्त जीव आहार रहित, स्व-स्वभाव-ज्ञानादिगुण पूर्ण है । उन्हें लोक-व्यवहृत आहार सर्वथा नहीं है । आहार का अर्थ भोजनमात्र में लिया जाता है, परन्तु वह भोजन भी आगम में छह प्रकार का बतलाया गया है और ऐसे भोजन (आहारों) में से जीव अपनी-अपनी आवश्यकताओं अथवा योग्यतानुसार आहार ग्रहण करता है । तपस्वी वर्धमान को भी संसारी होने के कारण आहार-क्रिया से वियुक्त नहीं किया जा सकता । वे वन में दो दिन तक ध्यानस्थ रहे और तीसरे दिन, अर्थात् मार्गशीर्ष कृष्णा द्वादशी को आहार के लिए उठे । छह प्रकार[2] के आहारों में उन्होंने कर्म, नो-कर्म, लेपाहार के त्याग में तो पहले ही उद्यम कर रखा था । मनसाहार केवल आत्म-चिन्तवन था । ओजाहार का प्रश्न ही नहीं (यह अंडजादि जीवों में होता है) इन पांच प्रकार के आहारों के अतिरिक्त षष्ठ आहार-कवलाहार उन्हें आवश्यक था । आखिर, शरीर-स्थिति की आवश्यकता देखते हुए कवलाहार का सर्वथा, सहसा ही कैसे त्याग किया जा सकता है ? फिर अभी तो तपस्वी वर्धमान को इस शरीर से तपस्या रूपी महत्त्व-पूर्ण कार्य भी लेना था, इसी के सहारे अपने घाति-अघाति कर्मों के क्षयकरण रूप

---

1. निर्ग्रन्थो नग्नकेऽपि स्यात् । —मेदिनी कोष 'थ' 20
'यथाजातरूपधरो निर्ग्रन्थो । —भावपा., (ईशा. पृ. 131)
'आउरण वज्जियाणं विसुद्धजिणकप्पियाणन्तु । —प्रवचनसार, भाग-3, (1934, मुद्रण)
(आवरण-रहित (नग्न) साधु जिन कल्पी होते हैं, ये विशुद्ध (मुनि) होते हैं-ऐसा भाव है ।)

2 'णोकम्म-कम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो ।
ओज-मणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो । —गो. जीवकाण्ड ।
(नो कर्म, कर्म, कवल, लेप, ओज और मानस इस प्रकार छह प्रकार के आहार होते हैं । ये सभी आहार संसारी जीवों में हैं और स्थिति के अनुसार होते रहते हैं ।)

कार्य को तपस्या द्वारा पूरा करना था। उन्हें शरीर-पोषण के लिए नहीं, अपितु तप-पोषण-हेतु आहार की आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति उन्हें करना पड़ रही थी, यानी वे स्वयं के लिए स्वयं भोजन नहीं करते थे--उन्हें करना पड़ता था। दिगम्बर मुनि के संबंध में कहा गया है—

'लें तप बढ़ावन हेत नहिं तनपोषते तज रसनि कौं।' —दौलतराम

(अर्थात् वे अपनी साधना की वृद्धि के लिए आहार लेते हैं। शरीर के पोषण पर उनका लक्ष्य नहीं होता और वे आहार में अनेक प्रकार के रसों का त्याग करते रहते हैं।) इस विधि में वे खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय इन चार प्रकार के कवलाहारों में अपना परिमाण करते हैं—छहों रसों में भी कई रसों का त्याग करते हैं। आहार पर जाने से पूर्व वे व्रतपरिसंख्यान (आखड़ी) भी लेते हैं, भूख से अल्प आहार करते हैं आदि। जैन शास्त्रों में इस विधि का वर्णन विस्तार से मिलता है, वहाँ इस सब विधि को वाह्य तप में गिनाया गया है।[1] मुनि का आहार दिन में एक बार ही होता है—वे दूसरी बार किसी प्रकार का आहार (जल आदि) ग्रहण नहीं करते। आहार-विधि भी खड़े होकर लेने की है, ताकि प्रमाद का परिहार हो सके। उनके हाथ ही पात्र का कार्य करते हैं, किसी पात्र (वर्त्तन) का वहाँ उपयोग नहीं होता। कहा भी है :

'इक बार दिन में लैं आहार, खड़े अलप निज पाणि[2] में।'
—दौलतराम (छहढाला)

'एक बार भोजन की बिरियां, मौन-साधि बस्ती में आवें।
जो नहिं बने जोग भिच्छाविधि, तो महंत मन खेद न लावें।
—भूधरदास; पार्श्वपुराण, ४।१२५

तपस्वी वर्धमान दो दिन के उपवास (बेला) के वाद चर्या (आहार) को उठे। वे ईर्या-समिति-पूर्वक नगर की ओर बढ़े।[3] मौन थे, शुद्ध और निर्दोष आहार उन्हें ग्रहण करना था। वे चलते-चलते कूलग्राम[4] में पहुँचे जहाँ नगरपति राजा कूल ने मुनिराज को पडगाहा-उनकी नवधा भक्ति की और आहार-दान का लाभ लिया, उसे आज मार्गशीर्ष कृष्णा द्वादशी का दिन वरदान बन कर आया, उसके पंचपरावर्तन की सीमा निश्चित हुई, वह मोक्ष का पात्र बना। तीर्थंकर को सर्वप्रथम आहार देनेवाले मोक्ष के अधिकारी होते हैं।

1. 'अनशनावमौदर्य वृत्तिपरिसंख्यान रसपरित्याग विविक्तशय्यासन कायक्लेशा: बाह्यं तप:। —उमास्वामि, तत्त्वार्थसूत्र।
2. 'एकाकी नि:स्पृहो शान्त: पाणिपात्रो दिगम्बर:। —भर्तृहरि; वैराग्य, 70.
3. 'वृतबेला जिनराज करि असन-ग्रहन के हेत। कूलग्राम परवेस करि ईर्यापथ चित देत॥ —मनसुखसागर।
4. कूलग्राम-पुरीं श्रीमत्व्योमगामि पुरोपमम्। कूलनाम महीपालो दृष्ट्वा तं भक्ति भावत:।
—उत्तरपुराण, 74।318–319

आहार के प्रसंग में तीर्थंकर महावीर चरित्र में पं० मनसुखसागर ने लिखा है—

चौपई

'कूल* नाम नृप लखि महावीर । भक्ति सहित ह्वै आयो तीर ।।
'तिष्ठ-तिष्ठ' प्रभु प्रासुक अन्न । जल प्रासुक तुम जग में धन्न ।।
चरन प्रछाल अरच बहुदर्व । जन्म सुफल निज जान्यो सर्व ।।
क्षीर भक्ति अक्षय निधि चवें । जै जै आखर खुर बहु हवै ।।
पंचाश्चर्य अमर मन लाई । नृप गृह करें अधिक हरषाई ।।
सगुण सार्द्ध षड्रत्न सु इष्ट । महिमा कहि-कहि करें सुविष्ट ।।

दोहा

जिन अहार करि बन गये; आतमगुण मन धार ।
निश्चलांग करि ध्यान धर, परम प्रीति सुखकार ।।

(चर्या-हेतु आते हुए भी महावीर को जब कूल राजा ने देखा तब वह भक्तिपूर्वक निकट आया और बोला—'हे स्वामिन् अत्र-तिष्ठ, तिष्ठ, तिष्ठ आहार-जल शुद्ध है। तुम जगत् में धन्य हो।' उसने प्रभु के चरणों का प्रक्षालन किया और अर्घ से उनकी पूजा की। अपना जन्म सफल माना और क्षीर-मिश्रित अन्न का आहार दिया। इससे राजा कूल के घर अक्षय निधि उत्पन्न हुई, देवों ने अनेक प्रकार जय-जयकार किया। राजा कूल के यहाँ पंचाश्चर्य (रत्नवृष्टि आदि) उन देवों द्वारा किये गये। देवों ने—रत्न की वृष्टि की ओर राजा कूल की पुण्य-महिमा का वर्णन किया।

वीर जिन आहार ग्रहण करके वन चले गये। उन्होंने अपने मन को आत्मस्वरूप में लगाया और प्रीतिपूर्वक सुखदायक ध्यान में अपना अंग स्थिर किया, अर्थात् वे त्रियोग से ध्यानस्थ हो गये।)

आहार-दान का महत्त्व

आहारदान श्रावक के आवश्यक कर्मों (क्रियाओं) में गर्भित है। इस दान के अनुमोदन मात्र से अनेक जीव आत्म-कल्याण कर गये और फिर जिसने तीर्थंकर को आहारदान दिया हो, उसके पुण्य का कहना ही क्या ? वह तो महाभाग्यशाली है। जो श्रावक नित्य आहारदान देते हैं, वे धन्य हैं, कहा भी है—

'दाणं भोयण मेत्तं दिण्णइ धण्णो हवेइ सायारो ।

—रयणसार, कुन्दकुन्द—१५

'अथभट्टारकोप्यस्मादगात्कायस्थितिंप्रति ।
कूलग्रामपुरीं श्रीमत्व्योमगामि पुरोपमम् ।।
'कूलनाम महीपालो दृष्ट्वा तं भक्ति-भावन: ।
प्रियंगुकुसुमाङ्गाभ: त्रि:परीत्य. प्रदक्षिणम् ।।
'परमान्नं विशुद्धयास्मै: सोऽदितेष्टार्थ-साधनम् । —उत्तरपुराण, 74।318, 19, 21.
'नृपति कूल-घर पारन कीनो मैं पूजों तुम चरना ।।मोहि.।। —कविवर वृन्दावन (चौबीसी पूजा में वर्द्धमान पूजा) ।

(जो श्रावक भोजनमात्र (आहारमात्र) देता है, वह धन्य होता है।)

राजा कूल के बड़े भाग्य हैं जो तपस्वी तीर्थंकर वर्धमान को प्रथम आहार-दान का सुयोग मिला। उसने इस हर्ष में उत्सव मनाया। देवों ने उसके घर-आँगन में रत्नवृष्टि की, पुष्पवृष्टि की, दुंदुभि-नाद किये, "धन्य-धन्य" शब्द कहे और सुगन्धित मन्द-मन्द पवन का संचार किया। वे अपने भवनों को चले गये। इधर कूल भी अपनी धर्मभावना को दृढ़ करते हुए प्रजापालन में तत्पर रहे। वे काल-लब्धि को पाकर मोक्ष प्राप्त करेंगे।

आहारदान की महिमा उत्तम पात्र से और भी बढ़ जाती है, क्योंकि उत्तम पात्र की साधना में सहायक होना अतुल पुण्योपार्जन करना है। मुनिगण की आहार-चर्या बड़ी संतुलित और कठिन है। उन्हें शरीर-स्थिति के साथ तप-स्थिति का भी विशेष ध्यान रखना पड़ता है। उन्हें आरोग्य शास्त्र का भी ज्ञान होना उचित है। वे मुनि धन्य हैं, जो तप की सिद्धि के लिए बहुमुखी प्रतिभा का उपयोग करते हैं:

आरोग्यशास्त्रमधिगम्य मुनिर्विपश्चित्—
स्वास्थ्यं सदा साधयति सिद्ध सुखैक हेतुम्।
अन्य:स्वदोषकृतरोगनिपीड़ितांगो
बध्नाति कर्म निज दुष्परिणाम भेदात्॥

—कल्याण कारक शास्त्र सं. ८९

(जो विद्वान् मुनि आरोग्य-शास्त्र को जानकर आहार-विहार रखते हुए स्वास्थ्य रक्षा कर लेता है, वह सिद्धसुख के मार्ग को प्राप्त कर लेता है, किन्तु जो स्वास्थ्यरक्षा-विधान को नहीं जानता वह अपने आहार-विहार में सदोष होने से रोग पीड़ित रहता हुआ अपने ही दुष्परिणाम भेद से कर्मबन्ध करता है।)

'तप करि जो करम खिपावै'

महान् कार्य-सिद्धि के लिए महान् परिश्रम करना पड़ता है। तीर्थंकर वर्धमान महावीर को अनादि कर्म-बन्धन-छेद-रूप महान् कार्य साधने में तपस्या रूप महा श्रम करना उचित लगा, क्योंकि कर्म-छेद का उपाय इसके अतिरिक्त अन्य नहीं। आचार्यों ने कर्मों की निर्जरा के विधान में तप को ही प्रमुखता दी है। तपस्या* द्वारा किया गया कर्मक्षय शिव (मोक्ष) के सुख को प्राप्त करा सकता है:

'तप करि जो करम खिपावै। सोई शिवसुख दरसावै।'

—पं. दौलतराम; छहढाला

* 'तपसा निर्जरा च' —तत्वार्थ. 9।3.

तीर्थंकर का मुख्य लक्ष्य तो आत्मसुख-प्राप्ति था और इसी के लिए वे विरक्त भी हुए थे। यदि उन्हें इन्द्रिय-जन्य नश्वर सुख की चाह होती तो राज-प्रासाद में किस बात की कमी थी ? वे गृहस्थ-बन्धन से मुंह क्यों मोड़ते ? वे जानते थे कि जब तक संयमरूपी जल से भरित आत्मारूपी नदी में स्नान नहीं किया जाएगा, तब तक शुद्धि कर्मों से पृथकत्व नहीं होगा। बाह्य आचार-विचार आत्मा की उपलब्धि में कारण अवश्य हैं, किन्तु आत्मप्राप्ति के चरम क्षण-शुक्ल ध्यान की प्रक्रिया में उन्हें भी छोड़ना पड़ता है, उन्हें अहोरात्र प्रतिक्षण साथ रहने वाले शरीर से भी ममत्व तोड़ना पड़ता है; अर्थात् तप ध्यान की उत्कृष्ट अवस्था में 'तिन सुथिर मुद्रा देखि मृगगण उपल खाज खुजावते।'–(छहढाला) रूप अवस्था हो जाती है। यदि प्रभु तीर्थंकर ऋषभ-देव के पुत्र बाहुबली (कामदेव) महाराज की तपस्यावधि में उनके तन पर लताएँ चढ़ गईं, दीमकों ने बामियां बना लीं, पर उन्हें पता तक न चला; आदि। इन सब प्रसंगों से यही पुष्ट होता है कि आत्म गुणों में अवगाहन ही कर्मक्षय-आत्मशुद्धि अर्थात् मोक्ष का मार्ग है। कहा भी है—

'आत्मा-नदी संयम-तोयपूर्णा, सत्यावहा शीलतटादयोर्मिः।
तत्रावगाहं कुरुपाण्डुपुत्र ! न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ।।

जल अथवा बाह्य साधनों से शरीर कदाचित् पवित्र हो सकता हो, परन्तु आत्मा की शुद्धि तो अन्तरंग तप—सत्य, शील, दया आदि के द्वारा ही कथंचित् संभव है। इसलिए आत्म-गुणों के विकास के हेतु इन्हें धारण (ग्रहण) कर शनैः शनैः पूर्ण निवृत्ति प्राप्त करना श्रेय है। अतः तीर्थंकर महावीर वर्धमान ने अपने को तपस्या में लगा दिया। वे जब आत्म-साधना में निमग्न हो जाते थे, तब कई दिन एक आसन से अचल-स्थिर बैठ जाते थे, या खड़े ही ध्यान किया करते थे। कभी-कभी पूरे मास तक लगातार ध्यान करते रहते थे। ऐसे समय में उन्हें आहार-पान तो होता ही नहीं था, साथ ही बाहरी वातावरण भी उनके अनुभव से अछूता रहता था। वे अपनी सहन-शक्ति को स्थिर और दृढ़ रखने के लिए अनेक परीषहों को सहन करते थे।* शीतऋतु में पर्वत या नदी-तट पर बैठे रहते, ग्रीष्मऋतु में तप्त पर्वत अथवा बालुका प्रदेश में बैठे रहते थे, चारों ओर से चलने वाली गरम लू के थपेड़े उन्हें विचलित नहीं कर पाते थे। नग्न दिगम्बर श्रमण-तपस्वी वर्धमान को किसी कष्ट का अनुभव नहीं होता था। वर्षा ऋतु में मूसलाधार पानी बरसता था, शीतल वायु चलती थी, परन्तु महावीर उस समय भी धीर रहकर अपनी वीरता और सहनशीलता का परिचय देते थे।

वन में सिंह दहाड़ रहा हो, हाथी चिंघाड़ रहा हो, सर्प फुफकार रहा हो, या उनके शरीर को जकड़ रहा हो, इस पर भी उन्हें पता नहीं।

---

* मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः। —तत्वार्थसूत्र, ९।८.

जैन-शास्त्रों में तपस्या का अत्यन्त महत्व है[1] और तपस्या का स्थान भी बड़ा उच्च एवं उत्कृष्ट है। वास्तव में तप इच्छा-निरोध का नामान्तर है।[2] बिना इच्छा निरोध किये, आस्रव नहीं रुकता और आस्रव के रुके बिना संवर व निर्जरा नहीं होते। मुनि, संवर और निर्जरा के लिए कठिन श्रम करते हैं और ऐसे श्रम के कारण उन्हें श्रमण कहा जाता है। श्रमण दिगम्बर मुनि के अपने विशेष मूल गुण होते हैं :

'पंच महाव्रत, पंचसमितिधर, इन्द्रिय पाँचों दमन करैं।
षट् आवश्यक, केशलोंच, इकबार खड़े भोजन करते।
दांतन-स्नानत्याग भू-सोवत यथाजात-मुद्रा धरते।

वे काय-वचन और मन की प्रवृत्तियों के रोकने में तत्पर रहते हैं, बाह्य और अन्तरंग दोनों प्रकार के तपों को तपते रहते हैं, समितियों का पालन करते हैं, क्षमा आदि विश्व-धर्म के दशलक्षणों को धारण करते हैं। बाह्य परिग्रहों का त्याग तो वे दीक्षा के समय ही कर देते हैं—उनकी साधना राग-द्वेष क्रोधादि रूप अन्तरंग परिग्रह के त्याग में भी होती है। द्वादश-अनुप्रेक्षा-चिन्तवन करते हैं। क्षुधा आदि परीग्रहों का सहन स्वेच्छा से करते हैं और उपसर्गों के प्रसंग में भी अपने धर्म में स्थिर रहते हैं। भयानक से भयानक कठिन परिस्थिति भी उन्हें मुनि-धर्म से विचलित नहीं कर सकी।

श्रमण महामुनि तीर्थंकर वर्धमान महावीर अपनी चर्चाओं में पूर्ण सावधान रहे। आत्म-ध्यान, पदार्थ-चिन्तन आदि से उपयोग हटने पर जब आवश्यकता अनुभव होती वे निकटवर्ती नगर-ग्राम में श्रावकों के यहाँ एक बार शुद्ध-निर्दोष आहार-ग्रहण कर आते थे, क्योंकि तप-वृद्धि में कारणभूत शरीर की स्थिति में आहार कारण है और जब तक आयु-कर्म शेष है—शरीर रहना ही है। वे रसों से अपनी इन्द्रियों को पुष्ट नहीं करते थे—रस परित्याग भी उनके आहार का अंग होता था, क्योंकि श्रमण दिगम्बर मुनि आहार का ग्रहण तप-वृद्धि के उद्देश्य से करते हैं, कहा भी है—

लैं तप-बढ़ावन हेतु, नहिं तन-पोषते तज रसन कौं।
इक बार दिन में लैं अहार, खड़े अलप निज पाणि में।

(छहढाला; दौलतराम)

उनका आहार यदि होता है तो चौबीस घण्टों में एक बार। वे दूसरी बार जल भी ग्रहण नहीं करते। उन्हें गृहस्थ के घर ही आहार लेना होता है, क्योंकि जैनसाधु अपरिग्रही होते हैं। जब वे स्वयं नग्न हैं, तब भोजन-पात्र, आच्छादन-वस्त्र व भिक्षा-

1. 'तपसा निर्जरा च' —तत्त्वार्थसूत्र, 9।3
2. 'इच्छानिरोधस्तपः' 'कर्मक्षयार्थं तप्यत इति वा तपः।' —पूज्यपाद टीका, 9।6

अन्न की संभाल का उन्हें विकल्प ही क्यों हो ? फिर संग्रह-वृत्ति उन्हें व्यर्थ है, जब कि दूसरी बार उन्हें लेना ही नहीं होता; इसीलिए, दिगम्बर मुनि को 'पाणिपात्र' भी कहा जाता है ।[1]

सिंहवृत्ति से आहार

मुनि को सिंहवृत्ति कहा गया है । जैसे ध्यान आदि में उनकी वृत्ति सिंह की भाँति स्वाधीन और सुस्थिर होती है, वैसे ही वे आहार-हेतु जाते हैं और श्रावक के घर आहार ग्रहण करते समय सिंहवृत्ति का परिचय देते हैं । वे याचना नहीं करते अपितु जो श्रावक उन्हें नवधाभक्ति पूर्वक विधि सहित सम्मान देते हैं—उनके ही आहार ग्रहण करते हैं । तीर्थंकर महावीर का अधिक समय ध्यान में ही व्यतीत होता था । वे आहार लेकर वन में चले जाते और ध्यानस्थ हो जाते । वे कभी पर्वत, कभी वन और कभी नदी-तट पर ध्यानस्थ रहते । वे कहीं दो दिन, कहीं चार दिन और कहीं सप्ताह ठहरते और विहार कर अन्यत्र चले जाते । शरीर में थकान अनुभव होने पर जब वे आवश्यक समझते थे एक करवट से पृथ्वी पर लेटकर अल्प निद्रा ले लेते थे –

'भू-माँहि पिछली रैन में, कुछ शयन एकासन करैं ।'

श्रमण महामुनि

तीर्थंकर महावीर (महा)श्रमण मुनि थे, वे श्रम का गूढ़ार्थ भलीभाँति जानते थे । संसार बढ़ाने वाले इन्द्रिय-विषयों की ओर बढ़ने का यत्न श्रम होते हुए भी आत्मदृष्टि से श्रम नहीं होता । श्रम तो मोक्ष-हेतु किये गये प्रयत्नों में है–श्राम्यति तपः क्लेशं सहते इति श्रमणः ।[2] इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो स्वयं तपश्चरण करते हैं, वे श्रमण हैं । समन् शमन शब्द भी श्रमण के सम-भावी हैं । अतः दुःख-सुख में सम रहना, समस्त जीवों को समान समझना भी इसी परिभाषा में आता है—

'जह मम न पियं दुक्खं, जाणिय एमेव सव्वजीवाणं ।
न हणइ न हणावेइ य सममणइ तेन सो समणो ।।

—अनुयोगद्वार सूत्र, उपक्रमाधिकार-१

श्रमण-संस्कृति भारत की प्राचीन संस्कृति है । तीर्थंकर ऋषभदेव भी इसी संस्कृति के युग-पुरुष थे । इतना ही क्यों जैन-शास्त्रों के अनुसार तो अनादि काल से होने वाले पूर्वकालीन तीर्थंकर, आचार्य, उपाध्याय और साधुगण सभी इसी संस्कृति के रहे । इस तरह श्रमण की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है ।[3] वर्तमान में उपलब्ध

---

1. 'कदा शम्भो, भविष्यामि पाणिपात्रो दिगम्बरः । —भर्तृहरि ।
2. 'तपो हि श्रम उच्यते । —पद्मपुराण, रविषेणाचार्य, 6।212.
3. श्रमण श्रमृधिता श्रमृत्यवः । —ऋग्वेद, 10।94।11.

साहित्य में स्थान-स्थान पर श्रमण दिगम्बर मुनियों का उल्लेख पाया जाता है।[1] नग्न दिगम्बर ही 'श्रमण' संज्ञा में आते हैं।[2] तीर्थंकर वर्धमान दिगम्बर मुनि थे, तीर्थंकर होने के कारण प्रमुखता देने के हेतु उन्हें महाश्रमण भी कहा जाता है। स्थानांगसूत्र में लिपिबद्ध गाथा दिगम्बर वेशधारी (जो अंतरंग-बहिरंग दोनों प्रकार से दिगम्बर हो) को ही श्रमण संज्ञा प्रदान करता है, क्योंकि दिगम्बर वेशधारण के बिना अन्य में ये गुण असंभव हैं, तथाहि—

'उरग-गिरि-जलण-सागर-नहतल-तरुगण समोअ जो होइ।
भमर-मिय-धरणि-जलरुह-रवि-पवण समो अ सो समणो॥ —स्था. सू. ५

(अर्थवृत्ति- सअमणो भवति इति प्रतिपदं सम्बध्यते। यः उरग समः परकृताश्रयनिवासात्। गिरिसमः परीषहोपकम्परहित्यात्। ज्वलनसमस्तेजस्तपोमयत्वात् तृणादिष्विव सूत्रार्थेष्वतृप्त त्वाच्च। सागरसमो गाम्भीर्यात्-ज्ञानादिरत्नाकरत्वाच्च, स्वमर्यादानातिक्रमात्वादपि। नभस्तल समः सर्वत्र निरालम्बनत्वात्। तरुगणसमः सुखदुःखयोरदर्शित-विकारत्वात्। भ्रमरसमोऽनियतवृत्तित्वात्। मृगसमः संसारभयोद्विग्नत्वात्। धरणिसमः सर्वखेदसहिष्णुत्वात्। जलरूहसमः कामभोगादभवत्वेपि पंकजलाभ्यामिव तदूर्ध्वे वृत्तेः। रविसमः धर्मास्तिकायादिलोकमधिकृत्याविशेषेण प्रकाशकत्वात्। पवनसमश्च सर्वत्राप्रतिबद्धत्वात्। एवं विधो य स श्रमणो भवति।)

—अभिधानराजेन्द्र कोष

---

1. 'विणय-सुद-णियम-संजमभरिदाणं भावममणाणं।' —तिलोयपण्णत्ति 4|1238
'आत्मारामा समदृशः प्रायशः श्रमणा जनाः।' —भागवत, 12|3|18-19.
'........वातरशनानां श्रमणानामृषीणाम्।' —भागवत, 5|3|20.
'श्रमण ब्राह्मणम्'—येषां च विरोधः शाश्वतिकः इत्यस्यावकाशः श्रमण ब्राह्मणम्।' —पातं. भा. 2|4|9.
'तापसा भुंजते चापि श्रमणाश्चैव भुंजते।' —वा. रा. बालकाण्ड, 14|12.
'समिति समतया शत्रुमित्रादिषु प्रणति प्रवर्तते इति समणः।' —अभि. रा. कोष।
'श्राम्यति इति श्रमणः। श्रममानयति पंचेन्द्रियाणि मनश्चेतिवा श्रमणः।' —अभि. रा. कोष।
'एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।' —प्रतिक्रमण 2.
'श्रमणसंघान्वयवस्तुनः धर्मनन्धाचार्याधिष्ठित प्रामाण्यस्य चैत्यालयस्य पूजासंस्कारनिमित्तं साधुजनोपयोगार्थं च।.........' —जैन शिला. 104.
'परित्यज्य नृपो राज्यं श्रमणो जायते महान्।' —पद्म. 6|212.
'समितत्ता हि पापाणं समणो ति पवुच्चति।'. —धम्मपद, धम्मट्ठवग्ग, 10.
'इच्छालोभ समापन्नो समणो किं भविस्सति।' —धम्मपद, धम्मट्ठवग्ग, 19|9.
'यः खलु श्रमणश्रमणोपासक भेदेन द्विविधंलिंगं मोक्षमार्गः।' —समयसार टीका, 414.
'सामायियम्हि दु कदे समणो इव सावग्रो हवदि जम्हा'। —अनगार. टीका, 36.
'अरहतानं समणानं च ददाति सतससेहिं।' —खंडगिरि ब्राह्मीलिपि अभिलेख, डा. लक्ष्मीनारायण साहू उड़ीसा में जैनधर्म, पृ.135.
'इच्छा लोभसमापन्नो समणो किं भविस्सति।' —धम्मपद, धम्मट्ठवग्ग, 9.
'श्राम्यतीति श्रमणाः तपस्यन्तीत्यर्थः।' —हरिभद्र, दशवैकालिक।
'समं तुल्यं मित्रादिषुमनः—अन्तःकरणं यस्य सः सममनाः।' —श्रुतस्कन्धः
'सम+मणः=समणः (निरुक्ति से मकार लोप)।' —हेम. व्या. अनुसार।
2. 'वातरशना ह वा ऋषयः श्रमणा................।' —तैत्ति. आ.2 प्र. 7, अनु. 1–2.
'श्रमणा दिगम्बरा श्रमणा वातवसना इति।' —भूषणटीकायाम् निघण्टुः

अर्थात् जिसकी वृत्ति सर्प, गिरि, अग्नि, सागर, आकाश, वृक्ष, भ्रमर, मृग, पृथ्वी, कमल, रवि और पवन के समान होती है, वे श्रमण श्रेणी में आते हैं। तीर्थंकर महावीर वर्धमान इसी वृत्ति के अर्थात् जिस प्रकार सर्प अपने लिए घर (विल) नहीं बनाता और सर्प के निमित्त अन्य कोई भी बिल का निर्माण नहीं करता—जैसे सर्प अन्य प्राणियों मूषक आदि द्वारा स्व-निमित्त निर्मित, अनुद्दिष्ट घर में निवास करता है, वैसे ही उन श्रमण मुनियों का भी जहाँ कहीं निवास हो जाता था। उन्हें उद्देश्य करके कोई व्यक्ति उपासरा, या आसरा नहीं वनवाता था और न ऐसा आसरा वे देखते ही थे; यदि उद्दिष्ट आसरे का वे उपयोग करते तो वे श्रमण श्रेणी में न आ पाते। वे जलरुह-कमलवत् थे अर्थात् जैसे कमल पुष्प जल में रहते हुए भी जल का उपभोग नहीं करता वैसे वे संसार में रहते हुए भी शरीरादि के शीतोष्ण निवारणार्थ उसके द्वारा आवरण आदि का भोगोपभोग नहीं करते थे, इसीसे उन्हें वातवसना दिगम्बर व्यपदेश प्राप्त था। वे आकाशवत् निरावरण और निरालम्ब थे। उन्हें संसार-वर्द्धक अथवा कामेन्द्रिय विकारगोपन हेतु (अपनी कमजोरी छुपाने के लिए) वस्त्रादि की आवश्यकता भी नहीं थी; क्योंकि वे निर्विकार थे, उनका मन स्वयं वश में था। वे दीक्षाकाल से ही नग्न थे ऐसा विद्वानों का अभिमत है।*

श्रमण अर्थात् दिगम्बर

'श्रमण' और 'दिगम्बर' भाववाचक शब्द हैं। जो दिगम्बर हैं, वे श्रमण हैं और जो श्रमण हैं, वे दिगम्बर हैं। श्रमणों को मुनि नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। मुनि अवस्था (दिगम्बरत्व) धारण करने से पूर्व मुक्ति भी असंभव है, क्योंकि मुक्ति पूर्ण मौन (गुप्ति-प्राप्ति) में होती है और पूर्ण मौन वाह्य अन्तरंग दोनों ही परिग्रह के त्याग से होता है। 'मुनि' शब्द की व्याख्या हम इस प्रकार जान सकते हैं—

'मौनाद्धि स मुनिर्भवति नारण्यवासनान्मुनिः।

—महाभारत, उद्योगपर्व, ४३।३५

(मौन रखने से मुनि संज्ञा सार्थक होती है, वन में जाकर रहने मात्र से ही नहीं)

---

* 'चाहे कुछ भी हुआ हो, इतना निश्चित है कि महावीर प्रवज्या लेने के साथ ही अचेल अर्थात् नग्न हो गये तथा मृत्यु-पर्यन्त नग्न ही रहे एवं किसी भी रूप में अपने शरीर के लिए वस्त्र का उपयोग नहीं किया।'

—जैन-आचार, डॉ. मोहनलाल मेहता, पृ. 153.

'..........ऐसे मुनियों को वस्त्र फटने की, नये लाने की, सुई-धागा जुटाने की, वस्त्र सीने की कोई चिंता नहीं रहती।'—

—वही, पृष्ठ 159.

—इसी पुस्तक में दिगम्बर चर्या की मर्यादा को, डॉ. सा. ने कल्पसूत्र के सामाचारी नामक अंतिम प्रकरण का हवाला देते हुए निम्न भाँति लिखा है। इससे मालूम होता है कि पाणिपात्र (दिगम्बर) की चर्या पात्रधारियों से कहीं ऊँची है। तथाहि 'पाणिपात्र अर्थात् दिगम्बर भिक्षु को तनिक भी पानी बरसता हो तो भोजन के लिए अथवा पानी के लिए नहीं निकलना चाहिये। पात्रधारी भिक्षु अधिक वर्षा में आहार पानी के लिए नहीं आ सकता।'

—वही पृ. 189

वास्तव में अन्तर-वाह्यतुल्यवृत्तिता ही स्वरूप-बोध की सत्य प्रत्यायिका है। यहाँ मौन शब्द का विशेष अभिप्राय यह है कि इन्द्रियादि व्यवहार का क्षयोपशम, उनका मूक हो जाना। जब तक इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय की ओर अनुधावन करती हैं, तब तक उनमें चलित भाव रहता है, वही स्पन्दन है। 'जनेभ्योवाक् तत्स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमः।' यह परम्परा इन्द्रियों की अमौन अवस्था को प्रकट करने वाली है। मौन शब्द की उपयोगिता लौकिक व्यवहार —जिसमें संसार बढ़ता हो—के त्याग में है ऐसा ऋग्वेद के भाष्य में भी उल्लेख है; तथाहि—

'मौनयेन मुनिभावेन लौकिक सर्व व्यवहार विसर्जनेन।

—सायणभाष्य। १०।१३५।४

(लौकिक व्यवहार जो लोक-स्थिति को बढ़ाने वाले हों उनसे मुनि को मौन—सर्वथा अछूता रहना होता है; और इसी हेतु वे मुनि कहलाते हैं। वास्तव में मौन एक ऐसी क्रिया है जिसमें सर्व-व्यवहार क्रिया का विसर्जन हो जाता है।)

मुनिगण जैसे वचन से विरत होते हैं, वैसे ही उन्हें स्वयं मन और काय की क्रिया से भी विरत होने का प्रयत्न करना पड़ता है। आखिर, जैन शास्त्रों में गुप्तियों का जो उपदेश दिया है, वह इसी मौन का उत्कृष्ट स्वरूप है। इस रूप को धारण किये विना कर्मास्रव नहीं रुकता —संवर नहीं होता और संवर के अभाव में निर्जरा और मोक्ष की उपलब्धि नहीं हो सकती। अतः कर्मक्षपण के लिए मुनि-मौनभाव में रहते हैं। वे मौनभाव से मुनि होते हैं और मुनि होते हैं इसलिए मौनभाव में होते हैं।

कैवल्य-आश्रम के अधिकारी

महाभारत में मुनि की स्थिति का वर्णन बड़े मार्मिक ढंग से किया गया है, उन्हें सभी आरंभिक क्रियाओं से विरत कहा गया है—

'एकश्चरतियः पश्यन्नजहाति न हीयते।
अनग्निरनिकेतः स्याद्[2] भिक्षार्थं ग्राममाश्रयेत् ॥
अश्वस्तनविधानः स्यान्मुनिर्भावसमन्वितः।
लघ्वाशी नियताहारः सकृदन्न निषेविता ॥
यस्मिन्वाचः प्रविशन्ति कूपे प्राप्ताः शिला इव।
न वक्तारं पुनर्यान्ति स कैवल्याश्रमे वसेत।'

—महाभारत, शान्तिपर्व, २३५।५-७

1 'कायवाङ्मनः कर्मयोगः।' 'स आस्रवः।' 'सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः।' —तत्त्वार्थसूत्र, 6।1–2, 9।4.
(मन-वचन-काय का क्रिया योग है। योग आस्रव है अर्थात् योग से आस्रव होता है। योग का भलीभांति निरोध करना गुप्ति है।)

2. 'अनग्निरनिकेतः स्यात्।' —मनु. 6।43.

(जो देखते हुए एकाकी विचरण करते हैं न किसी का त्याग करते हैं और न किसी से परित्यक्त होते हैं—अर्थात् स्वयं स्नेह अथवा बैर से रहित हैं तथा लोक-तिरस्कार के पात्र भी नहीं हैं । जो गृह-रहित हैं, अग्नि-वर्जित हैं—अग्नि प्रज्वलित कर इच्छानुसार अन्न-पाक नहीं करते एवं शीत-निवारणार्थ भी उसका उपयोग नहीं करते और भिक्षाग्रहण के लिए ग्राम में आते हैं, वे मुनि हैं । जो कल के लिए संजोकर नहीं रखते, न ही उसके संचय की भावना मन में लाते हैं, मिताहार करते हैं, नियत समय पर तथा हित-मित मात्रा में ही आहार-ग्रहण करते हैं और एक समय ही अन्न-सेवी हैं, वे मुनि हैं । जो अपने प्रति कहे गये कठोर दुर्वचनों, अथवा प्रशंसा-वचनों को सुनकर उनका हर्ष-विषाद नहीं करते, तथा जिस प्रकार कुएं में फेंका हुआ पत्थर फेंकने वाले के पास लौटकर नहीं आता उसी प्रकार वक्ता की सत्-असत् वाणी का प्रत्युत्तर नहीं देते, वे मुनि ही मोक्षाश्रम के पथिक हो सकते हैं ।)

'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।।' —गीता, २।५६

(दुःखों में उद्विग्न मन न होने वाले, सुखों में स्पृही (इच्छावान्) न होने वाले, वीतराग अथवा जिनके भय-क्रोध व्यतीत (समाप्त) हैं—ऐसी बुद्धि) वाले मुनि[1] कहलाते हैं ।)

मुनि : गुप्तियों में सावधान

गुप्ति मौन का उत्कृष्ट रूप है । मौन अथवा गुप्ति से शुभ-अशुभ सभी प्रकार के कर्मों का आस्रव रुक जाता है । मौन से एकाग्रता होती है—आत्म-जागृति होती है । शास्त्रों में ज्ञान का जो मूल्य है, उससे अधिक मूल्य गुप्तियों का है—अज्ञान का कोई मूल्य नहीं । अंग-पूर्वपाठी गुप्ति-रहित ज्ञानी, संसार में भटकते रहते हैं, पर वे ही ज्ञानी जब गुप्तियों में सावधान होते हैं, मुनि होते हैं—सभी प्रकार से मौनभाव (गुप्ति) में आते हैं तब कोटि-कोटि के और भवों के संचित कर्मों को गुप्ति-रूप चारित्र के द्वारा क्षणमात्र में क्षय कर देते हैं ।[2]

1. 'मनुते जानाति यः स मुनिः'—'मनेरुच्च इति उणादि सूत्रेण इन् उन् च ।'
2. 'जं अण्णाणी कम्मं खवेइ भवसय सहस्सकोडीहिं ।
तं णाणी तिहि गुत्तो खवेइ उस्सास मेत्तेण ।।' —प्रवचनसार, 3138.
'उग्गतवेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहिं ।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेइ अन्तो मुहुत्तेण ।।' —मोक्ष पाहुड, 53.
'कोटि-जन्म तप तपै, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे ।
ज्ञानी के छिन मांहि त्रिगुप्ति तें सहज टरैं ते ।।' —छहढाला, 414.
(त्रि-गुप्ति पुरुष का स्व-प्रयास है । ज्ञानपूर्वक त्रिगुप्ति-धारण सर्वभावबद्ययोगविमोचक है । इसीलिए ज्ञानपूर्विका त्रिगुप्ति सहज कर्म दोषापहारिणी है ।)

अज्ञानी जीव जिन कर्मों की निर्जरा अनेक कोटि वर्षों और भवों में करने में समर्थ हो जाए तो 'उन सहस्रों और करोड़ों वर्षों—जन्मजन्मान्तरों के कर्मों को त्रिगुप्ति-धारक (चाहे वह बड़ा ज्ञानी न होकर अल्पज्ञानी ही क्यों न हो) उच्छ्वास-मात्र काल में क्षय कर देता है; क्योंकि चारित्र के बिना मुक्ति नहीं होती। मुनि शब्द भी त्रि-गुप्ति-रूप-चारित्र (मौन-सर्व पर-निवृत्ति) में ही गर्भित है।

मौन का महत्व

मौन का बड़ा महत्त्व है—जिसके कारण मुनि बना जाता है। व्यवहार में भी इसकी महत्ता है। वाचाल मनुष्य अपनी इन्द्रियों और मन को केन्द्रित नहीं कर सकता, उसका उपयोग चारों ओर बँटा रहता है। प्रकृति ने भी उपयोग स्थिर रखने में कारणभूत मौन रखने में प्राणी की पर्याप्त सीमा तक सहायता की है। हिन्दी के किसी कवि ने कहा है—

बहु सुनना कम बोलना, यह ही परम विवेक।
प्रकृति ने भी कर दिये, कान दोय मुख एक॥

फिर न बोलने के पीछे एक सिद्धान्त भी तो है। जब तक पदार्थों का पूर्ण ज्ञान न हो तब तक मौन भाव भंग करना—बोलना आदि हितकर भी तो नहीं होता। अज्ञान या अल्पज्ञान में अन्यथा भी तो कहा जा सकता है। तथा जो दिखाई देत है वह अचेतन है—वह जानता नहीं, और जो जानता है वह (आत्मा) बोलता नहीं। ऐसी स्थिति में कौन किससे बातें करे ? कहा भी है—

'जं मया दिस्सदे रूपं तं ण जाणादि सव्वहा।
जाणगं दिस्सदे णं तं तम्हा जंपेमि केण हैं॥

—मोक्षपाहुड, २९

जैन मान्यतानुसार तीर्थंकर छद्मस्थ अवस्था में उपदेश-धर्मोपदेश अर्थात् मोक्षमार्ग का उपदेश नहीं देते। वे कैवल्य-पद-प्राप्ति के बाद ही तद्रूप देशना करते हैं। महावीर तीर्थंकर अभी छद्मस्थ थे। मति-श्रुत-अवधि तो उन्हें जन्म से ही थे और दीक्षा के अनन्तर उन्हें मन:पर्ययज्ञान भी हो गया था, पर कैवल्य-प्राप्ति होने में विलम्ब था। वे दीक्षा के पश्चात् बारह वर्ष तक मौन अवस्था में अवाक् रहे। इसी-लिए उन्हें 'महामौनी' और 'आकेवलोदयान्मौनी' जैसे विशेषण दिये गये हैं। बारह वर्ष तक के इस काल में उन्होंने अनेक स्थानों में घोर तप किया।*

* 'ग्राम-पुर-खेट-कर्वट-मटंब घोषाकारान्प्रविजहार।
उग्रैस्तपोविधानै द्वादश वर्षाण्यमर पूज्य:। —निर्वाणभक्ति
(तीर्थंकर महावीर ने ग्राम, पुर, खेट, कर्वट, मटंब, घोषाकार आदि में विहार किया और उस काल में उनके बारह वर्ष उग्र तपस्या में व्यतीत हुए।)

महाश्रमण-मुनि तीर्थंकर महावीर इस प्रकार के मौन-भाव एवं तपश्चरण में पर्याप्त समय विहार करते रहे, आहार-बेला के अतिरिक्त उनका सम्पूर्ण समय एकान्त स्थान—वन, पर्वत, गुफा, नदी, श्मशान, उपवन आदि में व्यतीत होता था। निर्जन स्थान ही उन्हें हितकर थे। वन के भयानक हिंसक पशु जब महावीर तीर्थंकर के निकट आते तब वे स्वयमेव शान्त हो जाते थे। उनके निकट सिंह-हरिण न्यौला-सर्प, मार्जार-मूषक जैसे जाति-विरोधी जीव भी बैर-भाव को त्यागकर प्रेम और वात्सल्य से क्रीड़ा करते थे।[1] तीर्थंकर तथा मुनि में ऐसे शान्त एवं सह-अस्तित्व भावदर्शक परिणाम उनके आत्मस्थ होने से होते हैं। ध्यानी मुनि की शान्त-मुद्रा-दर्शन-मात्र से सुखोत्पादक होती है, उनकी चेष्टा-मात्र धर्म का उपदेश देती है।

जिस इन्द्रिय-विषय-वासना रूपी संसार में प्राणी जागृत रहते हैं—उनके सेवन की ओर दौड़ते हैं, उनमें मुनिगण शयन करते हैं, अर्थात् उनकी ओर से आँखें मूंद लेते हैं—विरक्त रहते हैं और जिस आत्म-प्रकाशरूपी दिन—ध्यानादि की ओर प्राणियों की दृष्टि नहीं होती, अर्थात् प्राणी शयन करते हैं, उसमें मुनिगण जागृत (सावधान) रहते हैं।[2]

'जा निसि सयलह देहियह जग्गिउ तहिं जग्गेइ।
जहि पुण जग्गइ सयलु जगु सा निसि मणवि सुएह।

—कुन्दकुन्द

'व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे।।

—समाधिशतक, ७८

महाकवि तुलसी ने उक्त भाव को निम्न पंक्तियों में अंकित किया है—

'एहिं जग जामिनी जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच-वियोगी।
जानिअ तबहिं जीव जगजागा। जब सब विषय विलास बिरागा।
—रामचरितमानस, अयो. कां. वि. १९।९२

श्रेयांसि बहु विघ्नानि

इस प्रकार महाश्रमण महावीर कठोर साधना करते हुए देश के विभिन्न भागों के वन-प्रदेशों में साधनारत रहे। कहीं दो तो कहीं चार दिन उनका पड़ाव रहता।

---

1. 'सारंगी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोतं।
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशा केकि-कान्ता भुजंगं।
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति।
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम्।। —ज्ञानार्णव, शुभचन्द्राचार्य।
2. 'या निशा सर्वभूतेषु तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।—शुभ चन्द्राचार्य, 28/37
या निशा सर्व भूतेषुतस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनः।। —गीता 2169.

वे निर्जन, शान्त, साधनोपयुक्त स्थान देखकर ध्यानस्थ हो जाते थे। एक बार उज्जयिनी के निकटवर्ती श्मसान में ध्यानस्थ बैठे थे, रात्रि का भयावह अन्धकार था—हाथ-को-हाथ नहीं सूझता था, कि श्मसानवासी 'स्थाणु' नामक रुद्र ने तीर्थंकर की परीक्षा का उपक्रम किया। ठीक ही है—'श्रेयांसि वहुविघ्नानि।' उत्तम कार्यों में विघ्न आते ही हैं। धीर-वीर ऐसे अवसरों पर भी कर्तव्य-पथ से विचलित नहीं होते।[1] फिर दिगम्बर वेशधारी के लिए तो स्थिरता और भी अनिवार्य है। इसी स्थिरता के हेतु उन्हें परीषह-विजय का अभ्यास करना होता है।

परीषह और उपसर्ग में वड़ा अन्तर होता है। जहाँ परीषह मुनि और कर्तव्य-मार्ग से च्युत न होने के लिए स्वयं सहन किये जाते हैं, वहाँ उपसर्ग किसी अज्ञानी द्वारा व्रत से च्युत कराने के उद्देश्य से होते हैं। परीषह स्वेच्छा से सहन किये जाते हैं, उपसर्ग परकृत होते हैं। जिन-शासन में परीषहों की संख्या वाईस वतलाई है और यदि एक साथ सहन किये जाएँ तो इनमें से उन्नीस तक एक साथ सहन करने संभव हैं। दिगम्बर मुनि इनके अभ्यासी होते हैं--वे उपसर्ग आने पर कर्मठता का परिचय देते हैं। तीर्थंकर महावीर ने भी ऐसा ही परिचय दिया।

श्मसान के तो नामोच्चार में ही भयंकरता समायी हुई है। रात्रि के सन्नाटे में जव चारों ओर आतंक छाया हुआ था, स्थाणुरुद्र ने ध्यानस्थ श्रमण महामुनि को देखकर उन्हें विचलित करना चाहा और विविध चेष्टाओं—क्रियाकलापों द्वारा अनेक बीभत्स दृश्य उपस्थित किये। उसने अपनी विद्या के वल से भयानक विकराल रूप वनाये और कानों के परदे फाड़ने वाले घोर अट्टहास किये, उसने अपना विकराल मुख फैलाया-वड़ी-वड़ी तीक्ष्ण दाढ़ों का प्रदर्शन किया, रौद्ररूप में नृत्य किया, अनेक वैतालों की सेना प्रभु के समक्ष खड़ी कर दी। उसने सर्प, हाथी, सिंह और अग्नि आदि के समूहों को भी वहाँ ला उपस्थित किया। पाप-कर्म में दक्ष किरात-सेना का भी वहाँ निर्माण हो गया। इस प्रकार स्थाणुरुद्र जो कुछ भी विघ्न कर सकता था, उसने किये; किन्तु वह वीर, महावीर, अतिवीर, सन्मति और वर्धमान नामों को सार्थक करने वाले प्रभु को विचलित न कर सका। वे मन्दार-गिरि की भाँति अडिग थे, अकम्प थे। ठीक है—

'अचल चलावै प्रलय समीर। मेरु-शिखर डगमगै न धीर।[2]

1. 'सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि।
तम्हा जहा बलं जोई अप्पा दुक्खेहिं भावए। —मोक्षपाहुड, 62.
(दुःखं आने पर अदुःखभावित—दुःख से अपरिचित ज्ञान क्षीण हो जाता है; अतः दुःखों में भी ज्ञान को बनाये रखने के लिए मुनि को यथाशक्ति दुःखों से आत्मा को भावित, सुपरिचित रखना चाहिये।
'अदुःख भावितं ज्ञानं क्षीयते दुःख सन्निधौ।
तस्मात् यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेत् मुनिः॥ —समाधिशतक, 102.
'मार्गाऽच्यवन निर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः। —तत्त्वार्थसूत्र, 918.

2. कल्पान्तकाल मरुतां चलताचलानाम्
किम्मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित्॥ —मानतुंगाचार्य।

(प्रलयकाल की वायु छोटे-छोटे पर्वतों को चलायमान कर सकती है, किन्तु सुमेरु पर्वत को हिला नहीं सकती ।)

ध्यान ध्यान तभी होता है, जब चित्त की एकाग्रता में हो । चलायमान चित्त, अन्य विकल्पों में जाने के कारण एकाग्रता का लोपी है । आचार्यों ने 'एकाग्र चिन्ता-निरोध' को ध्यान कहा है । इसमें मन-वचन-काय तीनों की एकरूपता अपेक्षणीय है, अन्यथा बगुला भी सरोवर के तट पर स्थिरकाय और एकपाद खड़ा रहता है पर, उसे ध्यानी नहीं कहा जाता । वह टेढ़ा व कपटी कहलाता है, उसके मन में दुर्भावना होती है । इसीलिए कहा गया है कि ध्यानी, योगी व सन्त पुरुष को भीतर-बाहर सम होना चाहिये, मन-वचन काय में एकरूप होना चाहिये—

'मन में होय सो वचन उचरिये । वचन होय सो तन सौं करिये ।'

जहाँ योगों में एकाग्रता नहीं, वहाँ ध्यान सु-ध्यान नहीं; अपितु कु-ध्यान संज्ञा पाता है । ऐसे कुध्यानों को आर्तध्यान और रौद्रध्यान संज्ञाओं से संबोधित किया जाता है । वे दुर्गति के कारण होते हैं । आर्तध्यान के इष्ट-वियोगज, अनिष्ट-संयोगज, वेदनाजन्य, दुःखचिन्तन ये चार भेद हैं; और रौद्र ध्यान के हिंसानन्दी, असत्या (मृषा) नन्दी, चौर्यानन्दी, अब्रह्मानन्दी और परिग्रहानन्दी ये पाँच भेद हैं । तीर्थंकर वर्धमान में इनका पूर्ण अभाव था । वे धर्मध्यान में मेरुवत् अचल थे । अतः रुद्र के विभिन्न उपसर्ग उन पर अपना प्रभाव न जमा सके ।[1] उक्त प्रसंग को यदि कवियों की भाषा में कहा जाए, तो निम्न उद्धरण पर्याप्त है—

छप्पय

किलकिलंत बेताल, काल कज्जल छबि सज्जहिं ।
भौं कराल विकराल, भाल मदगज जिमि गज्जहिं ।।
मुंडमाल गल धरहिं, लाल लोयननि डरहिं जन ।
मुख फुलिंग फुंकरहिं, करहिं निर्दय धुनि हन-हन ।।
इहि विधि अनेक दुर्भेष धरि, स्थाणुरुद्र[2] उपसर्ग किय ।
तिहुंलोकवंद्य जिनचन्द्रप्रति, धूलि डाल निज सीस लिय ।।

1. 'नोकिंचित्करकार्यमस्ति गमनप्राप्यं न किंचिद्दृशो ।
दृश्यं यस्य न कर्णयोः किमपि हि श्रोतव्यमप्यस्ति न ।
तेनालम्बितपाणिरुज्झितगतिर्नासाग्रदृष्टि रहः ।।
सम्प्राप्तोऽति निराकुलो विजयते ध्यानैकतानो जिनः ।।
[उन्हें (जिनको जिन होना है, ऐसे श्रमण महामुनि रूपधारी) सांसारिक कोई कार्य शेष नहीं है उनको (ध्यानकाल में) कहीं जाना नहीं है, कुछ देखना और सुनना भी नहीं है, इसलिए वे गति छोड़कर हाथ-पर-हाथ रखकर नासाग्रदृष्टि से एकान्त में निराकुल होकर ध्यान करते हैं, ऐसे (भावी) जिन की विजय निश्चित है अथवा वे विजयी होते हैं ।]
'प्रभु अचिन्त्यमहिमाधनी त्रि-भुवन पूजत पाँय ।
तिनके यह क्यों संभवै, दैत्य (सुर) उपसर्ग कराय ।।
प्रभुचित चल्यौ न तन हल्यौ, टल्यौ न धीरज ध्यान ।
इन अपराधी क्रोधवश, करी वृथा निज हान ।।

2. कमठ का जीव ।

आचार्य ने उक्त उपसर्ग का वर्णन बड़े मार्मिक एवं हृदयस्पर्शी रूप में इस तरह किया है—

'उज्जयिन्यामथान्येद्युस्तच्छ्मशानेंतिमुक्तके ।
वर्धमानं महासत्वं प्रतिमायोगधारिणम् ।।
निरीक्ष्य स्थाणुरेतस्य दौष्ट्याद्धैर्यं परीक्षितुं ।
उत्कृत्यकृत्तिकास्तीक्ष्णाः प्रविष्ट जवराण्यलं ।।
व्यात्ताननाभिभीष्माणि नृत्यन्ति विविधैर्लयैः ।
तर्जयन्तिस्फुरध्वानैः साट्टहासैर्दुरीक्षणैः ।।
स्थूल वेतालरूपाणि निशिकृत्वा समन्ततः ।
पराण्यपि फणीन्द्रेभसिंहवन्ह्यनिलैः समं ।।
किरात सैन्यरूपाणि पापैकार्जन पंडितः ।
विद्याप्रभावसंभावितोपसर्गैर्भयावहैः ।।
स्वयं स्खलयितुं चेतः समाधेरसमर्थकः ।
स महातिमहावीराख्यां कृत्वा विविधः स्तुतीः ।।

—उत्तरपुराण, ७४।३३१-३३६

जब रुद्र थक गया तब उसने महावीर-अतिवीर की स्तुति की और अपने स्थान को चला गया। ध्यान पूर्ण कर महाश्रमण महावीर वर्धमान उठे और प्रातःकालीन सिद्ध-भक्ति से निवृत्त हो आगे, चल दिये।

□□

चन्दना की शुभगाथा

तपस्वी तीर्थंकर वर्धमान वनों में घोर तपश्चर्या करते रहे। वे विहार करते हुए अनेक वन, ग्राम और नगरों में जाते और निकटवर्ती वनों में निश्चल ध्यान लगाते। वे आहार के हेतु नगर में भी प्रवेश करते थे। तपश्चर्या के इस काल में वे अनेक ग्राम, नगर, खेट, कर्वट, मटंब, द्रोणमुख आदि में गये।* वे एक वार वत्स देश की कोशाम्बी नगरी में पहुँचे और वहाँ के निकटवर्ती वन में ध्यान धारण किया। ध्यान-निवृत्त हुए तो नगरी में प्रवेश कर आहार की मुद्रा में चले।

नगर में एक सेठ के घर सती चन्दना तलघर में वन्दी (कैदी) की भाँति दिन व्यतीत कर रही थी। उसने सुना कि तीर्थंकर वर्धमान मुनि नगर में पधारे हैं।

*. ग्राम-पुर-खेट-कर्वट-मटंब घोषाकारान्प्रविजहार। —निर्वाणभक्ति, 10.
(ग्राम : जिसके चारों ओर बाड़ हो; नगर-पुर : जिसके कोट में चारों ओर दरवाजे हों; खेट : जो नदी और पर्वत के बीच में हो; कर्वट : जिसके चारों ओर पर्वत हो; मटंब : जिससे 500 गाँव लगते हों; घोष : छोटी झोपड़ी वाले स्थान; आकर : जिसमें खानि हो; पत्तन : जहां रत्न उत्पन्न हों; द्रोणमुख : जो समुद्र के किनारे हो; संवाहन : जो पर्वत के ऊपर स्थित हो।

उसके मन में भावना हुई कि मैं आहार-दान दूँ, किन्तु वह तलघर की जेल में पड़ी थी, बेड़ियाँ उसके पाँवों में थीं। वह चिन्ता में पड़ गई, परन्तु उसके पुण्य का उदय आया और उसकी भावना फलीभूत हुई। ठीक भी है–'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।' संयोग से मुनिराज उधर ही आ गये। चन्दना के बन्धन टूट गये और उसने शुद्धिपूर्वक नवधा भक्ति से उन्हें पड़गाहा। देने को उसके पास था ही क्या? वह तो प्रतिदिन भोजनार्थ मिलने वाले अन्न को ही शुद्ध बनाकर खाती थी। अन्न पक्व तैयार था, उसने उसी में मुनिश्री का सत्कार किया। नभ से रत्न-वृष्टि हुई। सारा नगर सती चन्दना की जय-जयकार से गूँज उठा। लोगों ने उसकी स्तुति (प्रशंसा) की और उसे सम्मान दिया।

चन्दना थीं तो चेटक राजा की पुत्री, किन्तु उद्यान में झूलते समय एक विद्याधर द्वारा उसका अपहरण हुआ था। जब उसके चंगुल से छूटी तब दुर्भाग्यवश उस सेठ के घर दासी के रूप में जाना पड़ा। वह नवोढ़ा सुन्दरी थी, सेठानी ने इस शंका से कि कहीं यह मेरे पति की प्रेम-पात्र न बन जाए, उसे तलघर में रख दिया था। अभागिन चन्दना आज भाग्यशालिनी बन गई, उसने तपस्वी महावीर को आहार दिया–उसकी दासता की बेड़ियाँ कट गईं, उसका उद्धार हो गया। सेठानी चन्दना सती के पैरों में पड़ गई और अपने दुर्भावों की क्षमायाचना करने लगी। चन्दना बोली–'जीव को सुख-दुःख देने वाला अन्य कोई नहीं। जैसे इस जीव ने पूर्वजन्म में कर्म किये हैं, वैसे ही फल इसे भोगने पड़ेंगे। अन्य तो उसमें निमित्त मात्र होते हैं–

'पुराकृतं कर्म यदात्मना पुनः फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।'

सती चन्दना की उदारता एवं प्रभाव के सामने सेठानी पानी-पानी हो गई। उसने बारंबार चन्दना को सराहा। ठीक ही कहा है––

'शीलमाहात्म्यसंभूत पृथु हेमशराविका।
शाल्यन्नभावबत्कोद्रवोदना विधिवत्सुधीः॥

––उत्तरपुराण ७४।३४६

(शील के माहात्म्य से सती चन्दना का मिट्टी का पात्र (शराव) सुवर्ण का बन गया और कोद्रव के साधारण चावल शालि-तंदुल बन गये और चन्दना ने तीर्थंकर को आहार दिया।)

वे स्त्रियाँ धन्य हैं जिन्होंने शील रूपी आभूषण की सुरक्षा की। चन्दना को तीर्थंकर वर्द्धमान के समवसरण में गणिनी (आर्यिका) मुख्या बनने का सुयोग भी मिला। उत्तरपुराण में सती चन्दना के परिचय में जो श्लोक मिलते हैं, उनसे उक्त घटना पर पूरा प्रकाश पड़ता है कि चन्दना कौन थी और उन पर किस प्रकार उपसर्ग

(कष्ट) का प्रसंग आया। यहाँ पाठकों की जानकारी के लिए उसके कुछ अंश उद्‌धृत किये जा रहे हैं--

'कदाचिच्चेटकाख्यस्य नृपतेश्चन्दनाभिधां ।
सुतां वीक्ष्य बनक्रीडासक्तां कामशरातुरः ।
कृतोपायोगृहीत्वैनां कश्चिद्गच्छन्नभश्चरः
पश्चात्भीत्वास्वभार्याया महाटव्यां व्यसर्जयत् ।।
वनेचरपतिः कश्चित्तत्रालोक्य धनेच्छया ।
एनां वृषभदत्तस्य वाणिज्यस्य समार्पयत् ।।
तस्य भार्या सुभद्राख्या तया संपर्कमात्मनः ।
वणिकः शंकमानोऽसौ पुराणकोद्रवोदनं ।।
आरनालेन संमिश्रं शरावे निहितं सदा ।
दिशतीशृंखलाबन्ध भगिनी तां व्यधाद्रुषा ।।
परेद्युर्वत्सदेशस्य कौशांबीनगरान्तरम् ।
कायस्थित्यै विशतं तं महावीरं विलोक्य सा ।।
प्रत्युव्रजंती विच्छिन्नशृंखलाकृत बंधना ।
लोलालिकुल नीलोरुकेशभाराच्चलाचलात् ।।
विगलन्मालतीमाला दिव्यांबर विभूषणा ।
नवप्ररकापुण्येशा भक्तिभार भरानता ।।
शील माहात्म्यसंभूत पृथुहेम शराविका ।
शाल्यन्नभाववत्कोद्रवोदना विधिवत्सुधीः ।।
अन्नमश्राणयत्तस्मै तेनाप्याश्चर्यपंचकं ।
बन्धुभिश्च समायोगः कृतश्चन्दनया तदा ।।

—उत्तरपुराण, ७४।३३८-३४७

(चन्दना चेटक राजा की पुत्री थीं, ये तीर्थंकर महावीर वर्द्धमान की मौसी थीं। एक बार जब ये वन में झूला झूल रही थीं, इन्हें कोई कामातुर विद्याधर उठा ले गया। उस विद्याधर की स्त्री ने जब उसे देखा तो भार्या के भय से वह विद्याधर चन्दना को मार्ग के भयंकर वन में छोड़कर भाग गया। वहाँ किसी भील ने चन्दना को पकड़ लिया और धन के लोभ में उसे वृषभदत्त सेठ को बेच दिया। वृषभदत्त की भार्या को सेठ और चेटक की पुत्री* चन्दना के प्रति अनिष्ट संबंध की शंका हो गई जिसका

* राजा चेटक की सात पुत्रियाँ थीं, जिनमें चन्दना सबसे छोटी थी। चेटक राजा विदेह के कुण्ड नामक ग्राम के भूपति थे। इनकी बड़ी पुत्री प्रियकारिणी (त्रिशला) तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर की माता थीं—

सप्तार्धयोपुत्र्यस्य जायसी प्रियकारिणी ।
ततो मृगावती पश्चात्सुप्रभा च प्रभावती ।।
चेलनी पंचमी ज्येष्ठा षष्ठी चान्त्या च चन्दना।
विदेह विषये कुण्ड संज्ञायां पुरि भूपति :।।

—उत्तरपुराण, 75।6—7.

(चेटक की सात पुत्रियों के नाम– 1. प्रियकारिणी (त्रिशला), 2. मृगावती, 3. सुप्रभा, 4. प्रभावती, 5. चेलना, 6. ज्येष्ठा, 7. चन्दना।

परिणाम यह हुआ कि सती चन्दना को बन्दीगृह में रहना पड़ा। सती चन्दना के सतीत्व ने अन्ततः अपना प्रभाव दिखलाया। उसे तीर्थंकर महावीर वर्धमान को आहार देने का सुयोग मिला और उसके शील की प्रशंसा हुई। सच है—

'हारोभारो रशनापि बन्धनं नूपुराणि निगड़ानि।
शीलरत्नेन यस्या युवत्या न भूषितमंगम्।'

(जिस युवती का अंग शील धर्म से विभूषित नहीं है, वह कितने ही शृंगार कर ले उसकी शोभा-महिमा नहीं होती। हार उसके लिए भार है, रशना (करधनी) बन्धन है और नुपूर बेड़ियों के समान हैं।)

वास्तव में स्त्री-जाति में शील का होना परमावश्यक है; जैसे पुरुष ब्रह्मचर्य के प्रभाव से देवों द्वारा पूज्य हो सकता है, वैसे नारी शील के प्रभाव से त्रैलोक्य वन्द्य हो सकती है। चन्दना के आदर्श शील ने उसे ऊँचा उठा दिया, वह देवों द्वारा भी पूज्य हुई।

आहार के पश्चात् श्रमण महामुनि महावीर वर्द्धमान वन की ओर प्रयाण कर गये। वे स्थान-स्थान पर वन-पर्वतों में ध्यानस्थ हो जाते। इस प्रकार की तपस्या से उनके कर्मों की पर्याप्त निर्जरा होती रही; परन्तु वे समस्त कर्मों से निवृत्त होने में प्रयत्नशील थे, उनके ध्यान का क्रम चलता रहा।

दिशाएँ जिनकी वस्त्र हैं

महाश्रमण वेशधारी तपस्वी महावीर वर्धमान एकाकी तपस्या करते वन-वनान्तर भ्रमण करते रहे। उन्होंने वाह्य वेश की भाँति अपना आन्तर वेश भी परिवर्तित कर रखा था—उनके विचार, आचार और दृष्टिकोण में दीक्षा-काल से ही परिवर्तन हो चुका था। उनका त्याग उनके सम्यक् चित्त का संकल्प था। उनके मन-वचन-काय एकरूप थे। 'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्' का वे पूर्ण अनुसरण करते थे जैसा कि तीर्थंकर ऋषभदेव प्रभृति तीर्थंकर पूर्वकाल में करते रहे थे। अपने पूर्ववर्ती तीर्थंकर पार्श्वनाथ की परम्परा को उन्होंने पूरा-पूरा निभाया। जैसे पूर्ववर्ती कर्मविजेताओं ने अपरिग्रह व्रत का पूर्ण पालन किया, महावीर भी वहिरंग वस्त्रादि परिग्रह और अन्तरंग कषायादि परिग्रह से सर्वथा मुक्त—नग्न थे। वे शीत आदि अनेक परीषहों को सहन करते थे।[1] आचार्य कुन्दकुन्द ने परिग्रह-रहित

शीत से त्रस्त होकर वे बाहुओं को समेटते न थे, अपितु यथावत् हाथ फैलाये विहार करते थे। शिशिर ऋतु में पवन जोर से फुफकार मारता, कड़कड़ाती सर्दी होती, तब इतर साधु उससे बचने के लिए किसी गर्म स्थान की खोज करते, वस्त्र लपेटते और तापस लकड़ियाँ जलाकर शीत दूर करने का प्रयत्न करते, परन्तु महावीर खुले स्थान में नग्न बदन रहते और अपने बचाव की इच्छा भी नहीं करते………। निर्वस्त्र देह होने के कारण सर्दी-गर्मी के ही नहीं वे दंशमशक तथा अन्य कोमल-कठोर स्पर्श के अनेक कष्ट झेलते थे।

—आगम और त्रिपिटक: एक अनुशीलन, मुनि नगराजजी, पृ. 170

'………समणाणं निग्गंथाणं नग्गभावे मुण्डभावे अण्हाणए………अरहा समणाणं निग्गंथाणं नग्गभावे जाव लद्धावलद्धवित्तीओ जाव पट्ठवेहिंति।' —ठाणांगसुत्त (हैदराबाद संस्करण), पृ. 813

जस्सट्ठाए कीरइ नग्गभावो जाव तमट्ठं आरोहेइ। —भगवती सूत्र, शतक 9, उद्देशक 33

को अनागार और परिग्रह-धारी को सागार (गृहस्थ) कहा है—

'सायारं सग्गंथ परिग्गहारहिय खलु णिरायारं ।'

—चारित्तपाहुड, २१

[परिग्रह (वस्त्रादि) सहित सागार और परिग्रह-रहित मुनि होते हैं।] एतावता दिगम्बर वृत्ति ही मुनि श्रेणी में गर्भित होती है। दिगम्बर वेशधारी होने के कारण ही ऋषभ प्रभृति महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों को दिगम्बरों का शास्ता[1] कहा गया है। तीर्थंकर और श्रमण मुनि दीक्षा-ग्रहण के पश्चात् अपने पास तिल-तुष मात्र भी परिग्रह नहीं रखते। वे पाणिपात्राहारी होने के कारण वर्तन-आदि के विकल्पों से भी बचे रहते हैं। शास्त्रों में विधान है कि श्रावक को हाथ में भोजन नहीं करना चाहिये। (वर्तन में ही करना चाहिये) और साधु को पाणिपात्र ही होना चाहिये—

'खेडेवि ण कायव्वं पाणिप्पत्तं सचेलस्स ।
णिच्चेल पाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं ।।
एक्को वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे ।
चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्जा ।

—सुत्तपाहुड ७, १०, १३

(सचेल [वस्त्रधारी] को खेल [विनोद] भाव में भी हाथ को भोजनपात्र नहीं बनाना चाहिये। निचेल [दिगम्बर] को पाणिपात्र में भोजन का [जिनेन्द्रों ने] विधान किया है। एक [नग्नत्व] ही मोक्षमार्ग है शेष [वस्त्रादि सहित] अमार्ग [मोक्षपथ में] हैं। जो वस्त्र [चेल] सहित हैं, उनके प्रति इच्छामि [इच्छाकार] कहना चाहिये। 'नमोऽस्तु' शब्द नग्न-दिगम्बर के निमित्त प्रयुक्त करना चाहिये।)

दिगम्बरत्व को ही साधु-मुनित्वपद प्राप्त है, श्रमण भी वे ही हैं, इसीलिए दिगम्बर मार्ग में वस्त्रादि को अपवाद-रूप में भी स्वीकार नहीं किया गया। यदि स्वीकार किया भी जाता तो भी अपवाद को सदाकाल उत्सर्ग नहीं माना जाता। अन्यथा वह एक रोगी जैसी विडम्बना हो जाती ।[2] मुनि को विवसन[3] शब्द से (जैनेतर साहित्य में) संबोधित किया गया मिलता है। कोषकार 'विवसन'[4] को नग्न और जैन साधु के रूप में स्वीकार करते हैं। जैन साहित्य में एक स्थान पर जैन-तार्किक आचार्य समन्तभद्र की घटना का उल्लेख है कि 'एक बार उन्हें भस्म-व्याधि रोग हो गया

---

1. 'यथा ऋषभो वर्धमानश्च तावादी यस्य स ऋषभ वर्धमानादि: दिगम्बराणां शास्ता सर्वज्ञ आप्तश्च ।

—धर्मोत्तर आचार्य न्याय बिन्दु टीका, 3।131.

2. 'किसी वैद्य ने संग्रहणी के रोगी को दवा के रूप में अफीम-सेवन की सलाह दी, किंतु रोग दूर होने पर भी जैसे उसे अफीम की लत पड़ जाती है और वह उसे नहीं छोड़ना चाहता वैसी ही दशा इस आपवादिक वस्त्र की हुई।'

—जैन साहित्य में विकार, पं. बेचरदास, पृ. 40.

3. 'विवसन समय: इदानीम् निरस्यते।' —ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, 2।2।33.

4. 'विवसन=विगतं वसनं यस्य स विवसन:। निर्वस्त्र, नंगा। नग्न—जैन साधु।' —संस्कृत हिन्दीकोश, आप्टे, पृ0 953.

और मुनिपद त्यागना पड़ा। रोग के उपशान्त होने पर जब उन्होंने मुनि-श्रेणी में आने की इच्छा की, तव उन्हें प्रायश्चितपूर्वक अपना (आपत्कालीन गृहीत) वस्त्र त्यागना पड़ा; क्योंकि शासन में अपवाद मार्ग होने पर उसको उत्सर्ग मार्ग नहीं माना जाता, अर्थात् उसे सर्वथा सदा के लिए ग्रहण नहीं किया जाता।

आगम और 'चेल' शब्द

शास्त्रों में अनेक स्थलों पर 'चेल' शब्द देखने में आता है। 'चेल' वस्त्र को कहते हैं। जहाँ तक 'चेल' का विधान है, वहाँ तक श्रावक संज्ञा रहती है। उत्कृष्ट श्रावक जो मुनि-पद में जाने की तैयारी करता है वह मात्र छोटी लंगोटी (लघु कोपीन) ही रखने का अधिकारी होता है। * फिर वड़े या दो, तीन-चार वस्त्रों की तो कल्पना भी मुनिमार्ग में संभव नहीं है। मुनियों के वाईस परीषहों में नग्न-परीषह का विधान भी इसीलिए किया गया है। यह तो पहिले ही कह आये हैं कि मुनि पद संयम के दृढ़ करने-और कर्मों से छुटकारा पाने के लिए धारण किया जाता है; अतः मुनि संयम के उपकरण मात्र रखने के अधिकारी होते हैं। यदि उन्हें 'सचेल' या 'अचेल' (अल्प चेल) अर्थात् अल्प वस्त्र धारक माना जाए तो वह उनके इन्द्रिय तथा प्राणी दोनों में से किसी भी संयम का साधक न होकर वाधक ही होता है। कथा भी लोक में प्रसिद्ध है कि एक साधुवेशी लंगोटीमात्र के कारण पूरी गृहस्थी के जंजाल में ही पड़ गया। उसे विल्ली-कुत्ता और गाय तक पालने पड़े और खेती आदि के अनेक प्रसंग उपस्थित हो गये। कहा भी है—

'फाँस तनक-सी तन में साले।
चाह लंगोटी की दुखभाले।
भाले न समता सुख कभी नर, विना मुनि-मुद्रा धरै।
धनि नगन पर तन नगन ठाड़े सुर-असुर पाँयनि परै।

इसीलिए भक्तगण निम्नपद को भी वड़े चाव से पढ़ते देखे जाते हैं—

'मेरे कब ह्वै वा दिन की सुघरी।
तन-बिनु वसन, असन-बिनु वन में निवसौं नासा-दृष्टि धरी ॥'

तीर्थंकर एवं दिगम्वर मुनि काम-विजयी होने के कारण भी वस्त्र-रहित होते हैं। वे वालकवत् निर्विकार होते हैं, अतः उनके द्वारा किसी कमजोरी के छुपाये जाने का भी प्रश्न पैदा नहीं होता। वे तो क्रोध, काम और उदराग्नि को क्षमा, वैराग्य और अनशन के द्वारा शान्त करने वाले होते हैं, तथाहि—

'त्रयोऽग्नयः समुद्दिष्टाः क्रोधकामोदराग्नयः।
तेषु क्षमा विरागत्वानाहुतिभिर्वने। —उत्तरपुराण, २०२

---

* 'खण्डचेल (वस्त्र) धरः।' —समन्तभद्र

(क्रोधाग्नि, कामाग्नि और उदराग्नि ये तीन अग्नियाँ बतलाई गई हैं। इनमें क्षमा, वैराग्य और अनशन की आहुतियाँ देने वाले जो मुनि वन में निवास करते हैं, वे आत्मयज्ञ कर इष्ट अर्थ को देने वाली अष्टम पृथिवी मोक्ष स्थान को प्राप्त होते हैं।) तीर्थंकर महावीर वर्धमान भी इसी मार्ग में बढ़े जा रहे थे।

सम्यक् चारित्र-रूपी-वृक्ष

जगत् में कुछ पदार्थ बहुत परिश्रम एवं कष्टसाध्य होते हैं, उनका रूप अनेक परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने पर निखरता है। मिट्टी-पत्थरों में मिला हुआ रत्न-पाषाण खुदाई करने के बाद निकलता है। उसे छैनी, टाँकी और हथोड़ों की मार सहनी पड़ती है, शाण की तीखी रगड़ खानी पड़ती है, तब झिलमिलाता बहुमूल्य रत्न कहलाता है। अग्नि में तपकर सोना शुद्ध-चमकीला होता है, वह प्रतिष्ठा पाता है और ग्राहक उसे पूर्ण आदर से खरीदता है। श्रमण मुनियों को भी अनेक प्रकार के तप करने होते हैं। वे यम-नियम, व्रत-संयम, गुप्ति, समिति, धर्म आदि के द्वारा मोक्ष में साधनभूत चारित्र-वृक्ष को लगातार सींचते रहते हैं। तीर्थंकर को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो जन्म से होते हैं—उनमें मिथ्यात्व का अंशमात्र भी नहीं होता, पर चारित्र की पूर्णता के बिना मोक्ष नहीं होता; अतः उन्हें चारित्र-वृक्ष दृढ़ और प्रशस्त करना होता है। कहा भी है—

'व्रतसमुदायमूलः संयमस्कन्ध बन्धो,
यम-नियमपयोभिर्वर्धित : शीलशाखः।
समितिकलितभारो गुप्ति गुप्त प्रवालो
गुणकुसुमसुगन्धिः सत्तपश्चित्रपत्रः।
शिवसुखफलदायी यो दयाछाययौघः,
शमजनपथिकानां खेदनोदे समर्थः।
दुरितरविजतापं प्रापयन्नन्तभावं।
स भवविभवहान्यै नोऽस्तुचारित्रवृक्षः।

—वीरभक्ति, ४-५

(सम्यक् चारित्ररूप वृक्ष का मूल व्रत-समुदाय [महाव्रतादि -समुदाय] है। संयम से उसके सुदृढ़ स्कन्धबन्ध की रचना हुई है, यम और नियम की सावधान सिंचाई से वह बढ़ता है। शील उसकी शाखाएँ हैं और समितियों ने उसके भार को उठा रखा है। गुप्तियाँ उसके कोमल-किसलय (पत्र) हैं। मूलगुण पुष्प-सौरभ और श्रेष्ठ तप उसके बहुरंगी विभिन्न पत्ते हैं। वह शिवसुख (कल्याण अथवा मोक्ष) रूप फल देता है तथा दया-रूपी छाया से युक्त है। वह संसार-यात्री भव्यों के खेद को दूर करने में समर्थ है। पापरूपी सूर्य-ताप उसके छायाचित्रों का स्पर्श नहीं कर सकता। इस प्रकार विविध श्रेष्ठता-विभूषित यह चारित्र-वृक्ष संसार-हानि [जन्म-मरण-चक्र-विलोप] रूप सर्वोत्तम लाभ का साधन है।)

आत्मा अनंत वैभव का पुंज है। वह अप्रतिम है। उसके समान ससार में अन्य अमूल्य पदार्थ नहीं है। आत्मा का वैभव भी रत्न की भाँति अनादिकालीन कर्म-परम्परा के मैल से ढंका है। इसे दूर करने के लिए परीषह, उपसर्ग सभी सहने पड़ते हैं, तब कहीं जाकर आत्मा परमात्मा बनता है। वर्द्धमान महावीर को तपश्चरण करते हुए पर्याप्त समय हो गया था। उनकी संचित कर्मराशि क्रमशः निर्जीर्ण हो रही थी, आस्रव और बन्ध में भी संकोच हो चला था, उनका निखार निकट आ रहा था।

ऋजुकूला-तट पर कैवल्य

एक बार विहार करते हुए महावीर वर्द्धमान विहार प्रान्तीय जृम्भिका ग्राम के निकटवर्ती वन में पहुँचे। ऋजकूला [1] नदी का सुन्दर तट था। शीतल मन्द बयार चल रही थी, वातावरण शान्त और निःस्तब्ध था। वे सालवृक्ष के नीचे शिलापट पर विराजमान हो गये। उन्होंने वहाँ प्रतिमायोग धारण किया और ध्यानस्थ हो गये। स्वात्मचिन्तन में निमग्न होते ही उन्हें सातिशय अप्रमत्तगुणस्थान की प्राप्ति हो गयी। उन्होंने चारित्र मोहनीय कर्म की शेष २१ प्रकृतियों के क्षय-हेतु अष्टम गुणस्थान को प्राप्त कर लिया।

जैसे ऊँचे भवन पर शीघ्र चढ़ने के लिए सीढ़ी (निसैनी) उपयोगी होती है, वैसे ही कर्मबन्धन छेद कर ऊँचे चढ़ने के लिए क्षपक श्रेणी आवश्यक होती है। इसमें आत्म-परिणामों की प्रतिक्षण निर्मलता होती है। क्षपक श्रेणी का स्थान ८, ९, १० और १२ वाँ गुणस्थान होता है। आदि के तीन गुणस्थानों में बहुत अंश में मोहनीय की प्रकृतियाँ क्षीण हो जाती हैं; परन्तु मोह का पूर्ण क्षय बारहवें गुणस्थान में होता है। महावीर वर्द्धमान ने अधःकरण के पश्चात् पृथक्त्ववितर्क नामक शुक्ल ध्यान के प्रभाव से अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान प्राप्त किये।

इस समय आत्मा के समस्त कलुषित, विकृत भाव समूल नष्ट हो जाते हैं तदनन्तर बारहवें गुणस्थान में ही एकत्ववितर्क नामक द्वितीय शुक्ल ध्यान होता है और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय क्षय हो जाते हैं। मोहनीय के और ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय इन चारों कर्मों के क्षय से केवलज्ञान (अनन्तज्ञान), अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तबल प्रकट हो जाते हैं। तेरहवें गुणस्थान के अन्त में तीसरा सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति नामक शुक्लध्यान [2] होता है। तीर्थंकर ने इन सभी

---

1 'ऋजुकूलायास्तीरे सालद्रुमसंश्रिते शिलापट्टे।
अपरान्हे षष्ठेन स्थितस्य खलु जृम्भिकाग्रामे ॥ —निर्वाणभक्ति, 11.

2. श्रेण्यारोहणात्प्राग्धर्मध्यानं, श्रेण्योः शुक्लध्यानमिति।' —राजवार्तिक, 9।73'

प्रक्रियाओं में पूर्णतः सफलता प्राप्त की, उनके घाति-कर्म क्षय हुए और उन्होंने उसी दिन वैशाखशुक्ला दशमी को हस्तोत्तरा नक्षत्र की चन्द्रस्थिति में अपराह्ण (तीसरे प्रहर के प्रारम्भ) में केवलज्ञान प्राप्त किया। * इस उपलब्धि के लिए उन्हें १२ वर्ष, ५ मास, १५ दिन तपश्चर्या करनी पड़ी।

उन्होंने अपने पूर्व-तृतीय भव में जिस हेतु तपस्या की थी और इस भव में जिस निमित्त राजवैभव-सुख छोड़ा था, वह उत्तम कार्य सम्पन्न हो गया। यह जहाँ तीर्थंकर महावीर वर्द्धमान का परम कल्याण दर्शन था, वहाँ समस्त विश्व का, विशेषतः भारत-भूमि का परम सौभाग्य था कि उसे एक सर्वज्ञ, वीतरागी, हितोपदेशी अनुपम उदय मिल गया; और महावीर की तीर्थंकर प्रकृति का उसे लाभ मिलने का अवसर आ गया—

'शुकल दसैं वैसाख दिवस अरि, घाति चतुक छय करना।
केवल-लहि भवि भव-सर तारे, जजौं चरण सुख-भरना॥
नाथ मोहि राखो हो सरना।
श्री वर्द्धमान जिनरायजी, मोहे राखो हो सरना।

—कविवर वृन्दावन

अब तीर्थंकर केवलज्ञानी हैं। उनके ज्ञान में जगत् के पदार्थ दर्पणवत् झलकने लगे। कहा भी है—'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य।'—तत्त्वार्थसूत्र, १।२९। केवलज्ञान सर्वद्रव्यों की सर्वपर्यायों को युगपद् जानता है। इसीलिए तो अमृतचन्द्राचार्य उस केवलज्ञान-ज्योति को नमस्कार करते हैं—

'तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनंतपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र॥

—पुरुषार्थ १.

समवसरण

तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर अब पूर्ण ज्ञानी हो चुके हैं, यह जानते इन्द्र को देर नहीं लगी। उसने कुबेर को समवसरण-रचना का आदेश दिया और कुबेर ने भव्य समवसरण की रचना की। समवसरण उस सभा का नाम है, जिसका निर्माण तीर्थंकर केवलज्ञानी की दिव्यध्वनि के लिए किया जाता है। इसमें बारह सभाएँ होती हैं और भव्यजीव अपने-अपने लिए निश्चित स्थानों में बैठकर दिव्यध्वनि का आस्वादन

---

* 'वैशाखसितदशम्यां हस्तोत्तरमध्यमाश्रितेचन्द्रे।
क्षपकश्रेण्यारूढस्योत्पन्नं केवलज्ञानम्॥ —निर्वाणभक्ति, 12.
'वइसाह-सुद्धदहमी माघारिसक्खम्मि वीरणाहस्स।
रिजुकूल नदी तीरे अपरण्हे केवलं णाणं॥' —तिलोयपण्णत्ति, 4।701.

करते हैं। जैसे सब विषयों के पृथक्-पृथक् शास्त्र हैं, वैसे ही एक सभा-शास्त्र भी है। इसमें सभा की व्यवस्था का आद्यन्त पूरा-पूरा विधि-विधान होता है। जो सभाएँ सभा-शास्त्र के नियमों की अवहेलना करके निर्मित होती हैं, वे बहुधा असफल होती हैं जहाँ बैठने-उठने एवं शान्ति-स्थापना की व्यवस्था नहीं होती, ये सभाएँ और उनके वक्ता प्राय: असफल ही होते हैं।

तीर्थंकर की महिमा का क्या कहना ? उनको केवलज्ञान होते ही दस अतिशय प्रत्यक्ष रूप में सामने आ जाते हैं, यथा––

'योजन शत इक में सुभिख, गगन-गमन, मुखचार।
नहिं अदया उपसर्ग नहिं, नाहीं कवलाहार।।
सब विद्या ईश्वरपनो, नाहिं बढ़ें नखकेश।
अनिमिष दृग, छाया-रहित, दश केवल के वेश।।

इसके अतिरिक्त चौदह अतिशय देवकृत होते हैं, जैसे–

'देव-रचित हैं चार-दश, अर्धमागधी भाष।
आपस माहीं मित्रता, निर्मल दिशि आकाश।।
'होत फूलफल ऋतु सबै, पृथ्वी काँच समान।
चरण-कमल-तल कमल है, नभ तैं जय-जयवान।।
मंदसुगंध बयारि पुन, गंधोदक की वृष्टि।
भूमि विषैं कंटक नहीं, हर्षमयी सब सृष्टि।।
धर्मचक्र आगे रहे, पुनि वसु मंगल सार।
अतिशय श्री अरहंत के, ये चौंतीस प्रकार।।

तीर्थंकर के चार घातिया कर्म के क्षय होने से अनन्त चतुष्टय भी होते हैं, यथा––

'ज्ञान अनन्त, अनन्त सुख, दरस अनन्त प्रमान।
बल अनन्त, अरहंत सों, इष्टदेव पहचान।।

तीर्थंकर के अठारह दोष भी नहीं रहते जैसा कि कुछ लोग उन्हें भूख-प्यास उपसर्ग आदि मानते हैं। भला, जिनकी आत्मा सिद्धों के निकट पहुँच रही हो और जो मोह जैसे कर्मराजा का क्षय कर चुके हों उनके ऐसी न्यूनताओं की संभावना कैसे हो सकती है ? अठारह दोष, जो अरहंतों के नहीं होते, इस प्रकार हैं––

'जनम जरा तिरखा छुधा, विस्मय आरत खेद।
रोगशोक मद-मोह-भय, निद्रा-चिन्ता स्वेद।
रागद्वेष अरु मरण जुत, ये अष्टादश दोष।
नाहिं होत अरहंत के, सो छवि लायक मोष।

तीर्थंकर का सिंहासन समवसरण के मध्य होता है, और उनके आठ प्रातिहार्य होते हैं। यद्यपि इनसे तीर्थंकर का कोई प्रयोजन नहीं (वे तो सिंहासन से भी चार अंगुल अधर रहते हैं—वे परम वीतरागी हैं) तथापि प्रातिहार्य भव्य जीवों को प्रभावोत्पादक होने से देवनिर्मित होते हैं—महिमा-दर्शक होते हैं। तीर्थंकर का प्रभाव तो उनके वीतरागी सर्वज्ञ और हितोपदेशी होने से होता है। अन्यथा लोक-महिमा तो और भी बहुत से मायावी जुटा लेते हैं—उनसे महिमा नहीं होती। स्वामी समन्तभद्राचार्य ने एक स्थान पर कहा है—

'देवागम नभोयान चामरादि विभूतयः
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान्।
—देवागम स्तोत्र।

इन्द्र द्वारा स्तुति

जय णाहसव्वदेवाहिदेव। किय णायणरिन्दसुरिंद सेव।
जय तिहुवणसामिय तिविह छत्त। अट्ठविह परमगुणरिद्धिपत्त।।
जय केवलणाणुब्भिण्णदेह। वम्महणिम्महण पणट्ठणेह।
जय जाइजरामरणारिछेय। बत्तीससुरिन्दकयाहिमेय।।
जय परमपरंपर वीयराय। सुरमउकोडिमणिधिट्ठपाय।
जय सव्वजीव कारुण्णभाव। अक्खयअणंतणहयलसहाव।।

(सर्व देवाधिदेव! इन्द्रों के स्वामी!! हे जिनेन्द्र!!! आपकी जय हो! आपकी सेवा नाग-नरेन्द्र और सुरेन्द्र करते हैं। आपके त्रिविध छत्र (तीन छत्र) आपके त्रिभुवन-स्वामित्व का ख्यापन करते हैं—आप त्रिभुवन के स्वामी तीन छत्र के धारक हैं। अष्टकर्मों के क्षय होने से अष्ट प्रकार की परम गुण ऋद्धि को प्राप्त किये हैं। आप केवलज्ञान रूपी देह से प्रकाशित हैं, अथवा केवलज्ञानी हैं; शरीर से भिन्न हैं। आपने कामदेव का मथन और वासना का क्षय किया है, आपकी जय हो! जन्म-जरा-मरण का छेद करने वाले बत्तीस इन्द्रों से सेवित हे जिन, आपकी जय हो!! परम-उत्कृष्टों में भी उत्कृष्ट, वीतराग आपकी जय हो!! आपके चरणों में देवगण अपने मुकुटों (सहित मस्तकों) को रखते हैं अधिष्ठित करते हैं, अर्थात् नमस्कार करते हैं। आपका सर्व जीवों के प्रति कारुण्य, दया-भाव है। आपका स्वभाव आकाशवत्-निरपेक्ष, अभेदरूप से उपकार करना है और आपका स्वभाव (ज्ञान-दर्शनादि) अक्षय और अनन्त है—आपकी जय हो!)

स्तुति के पश्चात् इन्द्र और द्वादश सभाओं में स्थित भव्यजीव तीर्थंकर की दिव्यध्वनि की प्रतीक्षा करते रहे, परन्तु दिव्यध्वनि नहीं हुई और यह क्रम छियासठ दिनों तक चलता रहा। इन्द्र ने विचार किया कि इतने अन्तराल के बाद भी तीर्थंकर की दिव्य देशना क्यों नहीं हो रही है? यह तो ठीक है कि भव्य जीवों के भाग्योदय

से ही वाणी होती है। पर, क्या समवसरण में रहना ही भव्यता का परिचायक नहीं? जब कि समवसरण में प्रवेश मात्र परमपुण्योदय से ही होता है। इन्द्र ने विचार किया—

'णिग्गंथाइय समउ भरंतह, केवलिकिरणहो धर विहरंतह ।।
गय छासट्ठि दिणंतर जामहि, अमराहिउ मणि चिंतइ तामहि ।
इय सामग्गि सयल जिणणाह हो, पंचमणाणुग्गम गयवाह हो ।
किं कारणु णउ वाणि पयासइ, जीवाइय तच्चाइ ण भासइ ।।
—वर्धमान काव्य, जयमित्तहल्ल, पत्र ८३

(तीर्थंकर की निर्ग्रन्थ अवस्था में उन्होंने केवलज्ञानरूपी किरण को धारण किया है और विहार करते उन्हें ६६ दिन-रात बीत गये हैं, वे वाणी का प्रकाश कर जीवादि-तत्त्वों की प्ररूपणा क्यों नहीं कर रहे हैं? इन्द्र ने अपने अवधिज्ञान के बल से जाना कि तीर्थंकर की दिव्यध्वनि के ग्रहण करने के लिए किसी प्रधान शिष्य की आवश्यकता होती है। इस समय इन्द्रभूति गौतम इस योग्य हैं कि गणधर बने।

जयधवलाकार ने उक्त विषय का इस प्रकार वर्णन किया है—

"दिव्वज्झुणीए किमट्ठं तत्थापउत्ती? गणिंदाऽभावादो। सोहम्मिदेण तक्खणे चेव गणिंदा किण्ण ढोइदो? ण काललद्धीए विणा असहायस्स देविंदस्स तड्ढोयण सत्तीए अभावादो।" —जयधवला १, पृष्ठ ७६

'दिव्यध्वनि की प्रवृत्ति वहाँ (तब तक) क्यों नहीं हुई?

'गणेन्द्र (गणधर) के अभाव के कारण।

'सौधर्मेन्द्र ने केवलज्ञानोत्पत्ति और समवसरण-रचना के क्षण ही में गणिंद गणधर को क्यों नहीं खोजा अथवा बुलाया?

'काललब्धि के विना देवेन्द्र इस कार्य के सम्पन्न करने में असमर्थ था। गणधर के बुलाने में उसकी शक्ति का अभाव था।

ठीक ही है, जीव के शुभाशुभ उदय काललब्धि को पाकर ही होते हैं। कर्म के बन्ध में स्थिति-बन्ध भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। स्थिति पूर्ण होने पर ही विपाक होता है। होना जो होगा, जब होगा, जैसा होगा, वह सब काल आने पर ही होगा कहा भी है—

'जं जस्स जम्हि देसे जेण विहाणेण जेण कालम्मि।'—फलतः दिव्यध्वनि होने, गणधर के उपलब्ध होने, इन्द्र के खोज करने, विचारने और भव्यजीवों को देशना का लाभ लेने का काल आ पहुँचा। अतः इन्द्र को गौतम-इन्द्रभूति को लाने का उपक्रम करना पड़ा।

इन्द्रभूति (गौतम) की उपलब्धि

इन्द्र ने वृद्ध ब्राह्मण[1] का रूप बनाया और वह वेद-वेदांग के ज्ञाता, महान् प्रतिभाशाली और पाँच सौ शिष्यों के गुरु इन्द्रभूति-गौतम के समीप पहुँचा तथा इन्द्रभूति गौतम से निम्न पदार्थों के नामसूचक श्लोक का अर्थ पूछा—

'त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं नवपदसहितं जीवषट्कायलेश्या,
पंचान्ये चास्तिकाया व्रत-समितिगतिज्ञानचारित्रभेदाः ।
इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवन-महितैर्प्रोक्तमर्हद्भिरीशैः
प्रत्येति श्रद्धधाति स्पृशति च मतिमान् यः स वै शुद्धदृष्टिः ।।'[2]

—श्रुतभक्ति :

(लोक में छह द्रव्य हैं, नव पदार्थ हैं, षट्काय के जीव हैं, छह लेश्याएँ हैं, पाँच अस्तिकाय हैं। पाँच व्रत, पाँच समितियाँ और चार गतियाँ हैं। ज्ञान और चारित्र के भेद-प्रभेद हैं। ये मोक्ष के मूल हैं, ऐसा त्रिलोकपूज्य-अर्हन्तों ने कहा है। जो पुरुष इनका ज्ञान प्राप्त करता है, इनका श्रद्धान करता है, वही शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है।)

इन्द्र के प्रश्न को सुनकर इन्द्रभूति-गौतम के आश्चर्य का पारावार न रहा। उन्होंने श्लोक में पूछी गई बातों को स्वप्न में भी नहीं देखा, पढ़ा और सुना था। वह पाँच अस्तिकाय, छह जीव-निकाय, पाँच महाव्रत, अष्ट प्रवचन मातृका, बंध और मोक्ष को भी नहीं जानते थे। फलतः उन्होंने इन्द्र से कहा कि ये तुम्हारे प्रश्न अटपटे और विचित्र हैं, साथ ही विपरीत और विरूप भी हैं। इन्द्र बोला—'महाशय—हमारे गुरु इस समय विपुलाचल पर विराजमान हैं, वे तीनों लोकों के जीवों के समस्त गुणों को पर्यायों सहित जानते हैं. वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हैं और भूत-भविष्य एवं वर्तमान काल संबंधी पदार्थों को युगपत् जानते हैं।[3] उनका ज्ञान क्षायिक है, अनवरत है।

1. 'वार्धकं वपुरादाय कम्पमानः पदे पदे। तदा गौतमशालायां स गतो ब्रह्म-पत्तने।' —गौतमचरित्र, 4।74

2. 'पंचेव अत्थिकाया, छज्जीवणिकाया महव्वया पंच।
अट्ठ य पवयणमादा सहेउओ बंध मोक्खो य।।' —षट्खंडागम, पु. 9। पृ. 129
'त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं सकलगणितगणाः सत्पदार्था नवैव,
विश्वं पंचास्तिकाय-व्रतसमितिविदः सप्ततत्त्वानि धर्मः।
सिद्धेः मार्गस्वरूपं विधिजनितफलं जीवषट्काय लेश्या,
एतान् य श्रद्दधाति जिनवचनरतो मुक्तिगामी स भव्यः।' —सकलकीर्ति आचार्य

3. 'सइं भगवं उप्पण्णणाणदरिसी······सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि विहरदित्ति।' —षट्खं. पयडि. सू. 78
'से भगवं अरहं जिणे केवली सव्वण्णू सव्वभावदरिसी·········सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वभावाइं जाणमाणे एवं च णं विहरइ।' —आचा. 2।3। पृ. 425
'जं तक्कालियमिदरं जाणादि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं।' —प्रवचनसार-कुन्दकुन्द, 1।48

कृपा कर आप मुझे उक्त श्लोक का स्पष्ट अर्थ समझा दीजिए मैं भूल गया हूँ और आपकी विद्वत्ता को सुनकर आपके पास दौड़ा आया हूँ। मेरे गुरु तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर हैं और वे ध्यानस्थ मौन हैं।[1]

इन्द्रभूति-गौतम वृद्ध ब्राह्मण से श्लोक सुनकर विचार में पड़ गये कि छह द्रव्य, नव पदार्थ, षट्कायजीव, षड्लेश्या, पाँच अस्तिकाय आदि का मैंने आज तक नाम भी नहीं सुना। मैं वेद-वेदांग का ज्ञाता तो हूँ, परन्तु मुझे अर्हत् दर्शन का ज्ञान नहीं है। तब इसे मैं कैसे समझाऊँ ? इसके समक्ष अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना भी मूढ़ता होगी—मेरा अपमान होगा। ऐसा सोचकर उन्होंने अपनी मान-मर्यादा रखने के लिए और मन में अपनी विजय की कामना कर वृद्ध ब्राह्मण से कहा—'चल मैं तेरे गुरु से वार्तालाप करूँगा।'

इन्द्र तो यह चाहता ही था कि किसी तरह इन्द्रभूति-गौतम समवसरण में आयें। बस क्या था ? उसने 'हाँ' भर दी और इन्द्रभूति-गौतम को समवसरण की ओर ले चला। गौतम ने जैसे ही मानस्तम्भ को देखा उनमें नम्रता का संचार हो गया—उनका ज्ञान-मद कपूर की तरह उड़ गया। वे नत-भाव से आगे बढ़े—समवसरण में पहुँचे और सन्मुख विराजमान तीर्थंकर महावीर वर्द्धमान पर उनकी दृष्टि पड़ी। धर्म के प्रति उनकी श्रद्धा जाग उठी। उन्होंने साष्टांग जिन-वन्दन किया और तीर्थंकर के श्रद्धालु शिष्य बन गये। वे इतने प्रभावित हुए कि तत्काल दिगम्बर वेश धारण करते हुए स्तुतिपूर्वक अपने भ्राताओं सहित पंचमहाव्रतों को अंगीकार कर लिया।[2] इसी क्षण गौतम को सम्यग्दर्शन हो गया। उनके मति, श्रुत ज्ञानों ने सम्यक् रूप ले लिया और वे मनःपर्ययज्ञानी भी हो गये। फिर क्या था ? इतना होते ही तीर्थंकर

1. 'अहुणा गुरु मौ मउणे संठिउ, कहइ ण किंपि झाणपरिट्ठिउ।
गव्वहि तुम्ह पयउमइं णिसुणिय सत्थत्थहं अइकुसल वियाणिय।
'नहोकव्वहु अत्थत्थिउ आयउ, कहहु तं पि महु वियलिय मायउ।' —महावीर चरित, रयधू, पृ. 49
मुझ गुरु मौन लीधुं वर्धमान तेह नाम। तेहभणी तुझ पूछिवा आव्युं अर्थ गुणग्राम।।' —महावीररास (पत्र 120ए)

2. 'श्री वीर वर्द्धमानस्वामितीर्थंकरपरमदेवसमवसरणे मानस्तम्भावलोकनमात्रदेवागमभाषया दर्शनचारित्रमोहनीयोपशम-क्षयसंज्ञेनाध्यात्मभाषया स्वशुद्धात्माभिमुखपरिणामसंज्ञेन च कालादिलब्धिविशेषेण मिथ्यात्वंविलयं गतं तदा तदेव मिथ्याज्ञानं सम्यग्ज्ञानं जातम्। ततश्च 'जयति भगवान्' इत्यादि नमस्कारं कृत्वा जिनदीक्षांगृहीत्वा कच लोचानन्तरमेव चतुर्ज्ञानसप्तर्द्धि-संपन्नास्त्रयोऽपि (गौतमाग्निवायुभूतिनामान:) गणधरदेवा: संजाता:। गौतमस्वामी भव्योपकारार्थं द्वादशांगश्रुतरचनां कृतवान्; पश्चान्निश्चयरत्नत्रय भावनाबलेन त्रयोऽपि मोक्षं गता:।'
—बृहद्द्रव्यसंग्रह, नेमिचन्द्राचार्य, टीका गाथा, 41

'अद्याहमेवधन्योऽहं सफलं जन्म मेऽखिलम्।
यतो मयातिपुण्येन प्राप्तो देवो जगद्गुरु:।
त्रिशुद्धया परया भक्त्याऽर्हती मुद्रां जगन्नुतां।
भ्रातृभ्यां सह जग्राह तत्क्षणं च द्विजोत्तम:।।' —वीरवर्धमान चरित, सकलकीर्ति, 144; 149
'.........लइय दिक्ख विप्पेण समिल्लं।।' —वड्ढमाणचरिउ, सिरिहर, पत्र 70 ए
'ततो जैनेश्वरीं दीक्षां भ्रातृभ्यां सह जग्रहे। शिष्यै: पंचशतै: सार्धं ब्राह्मणकुलसंभवै:। —गौतमचरित्र, 4।101

वर्द्धमान महावीर का मौन भंग हुआ--उनकी दिव्यध्वनि खिरने लगी। उनके मुख्य गणधर यही गौतम बने। अब गौतम श्रुतकेवली हो गये। गणधर और गणेश दोनों संज्ञाओं से उन्हें संबोधित किया जाने लगा--'मंगलं गौतमो गणी।'

तीर्थंकर के मौनभंग का यह शुभ दिन श्रावणवदी प्रतिपदा का दिन था। जो तीर्थंकर केवलज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् अब तक ६६ दिनों के अखण्ड मौन में रहे वे अब भव्य जीवों को उपदेश देने लगे--वीरशासन का उदय हुआ।[1] ऐसे पुण्यशाली दिन को जनता ने वर्ष का ही नहीं अपितु जन्म की सफलता का दिन माना। यह शुभ दिन कई शताब्दियों तक भारतीय जनता में वर्ष का प्रारम्भिक दिन बना रहा। वह श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से अपना नया संवत्सर मानने लगी।

इधर दूसरी ओर राजा श्रेणिक प्रभृति के भाग्य भी जागे। वे भी सभा में पहुँचे। कवि के शब्दों में--

'मगधदेश देसनि-परधान। राजगृही नगरी सुभथान।
राजकरै श्रेणिक भूपाल। नीतवंत नृप पुन्य, विसाल ॥१॥
छायक-सम्यक-दरसनसार। रूपसील सब गुन आधार।
तिनके घर अन्तेवर घना। पटरानी रानी चेलना ॥२॥'

(जम्बूद्वीप के दक्षिण में स्थित भरतक्षेत्र में अनेक देश हैं उन) देशों में प्रमुख देश मगध है। उस मगध देश में राजगृही नगरी शुभस्थान (पद) है। उस नगरी में श्रेणिक नामक राजा राज्य करता है। श्रेणिक राजा पुण्यात्मा है और नीति (शास्त्र) के अनुरूप चलने वाला है। वह क्षायिक-सम्यग्दृष्टि और रूप-शील-गुणों का आधारभूत अर्थात् सर्वगुण-सम्पन्न है। उसके कई अन्तःपुर हैं। उसकी पटरानी चेलना है।

'जाके गुन बरनत बहुभाय। बिरियाँ लगै कथा बढिजाय।
एक दिना निज सभा नरेस। निवसै जैसे सुरग सुरेस ॥३॥
रोमांचित वनपालक ताम। आय राय प्रति कियो प्रनाम।
छहरितु के फल-फूल अनूप। आगैं धरे अनूपम रूप ॥४॥'

(उस राजा-रानी और अन्तःपुर के विविध गुणों के वर्णन में पर्याप्त समय लगेगा और कथा की वृद्धि होगी। (अतः संक्षेप में ही पर्याप्त है)। एक दिन राजा श्रेणिक अपनी सभा में इस प्रकार विराजमान थे, जिस प्रकार स्वर्ग-सभा में इन्द्र[2]

---

1. 'वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुल पडिवाए।
अभिजी णक्खत्तम्मि य उप्पत्ती धम्मतित्थस्स ॥
(वर्ष के प्रथम मास श्रावण मास कृष्ण प्रतिपदा को अभिजित् नक्षत्र में धर्मतीर्थ की उत्पत्ति दिव्यदेशना का प्रारंभ हुआ।)
—ऋग्वेद, 8।3।18।14.

2. 'इन्द्रो मुनिना सखा।'
—प्रतिष्ठा, 1।1.
'इन्द्रो जिनेन्द्रोत्सवकारकस्य [illegible] प्रतिष्ठाकालनाईम्।

विराजमान होता है। उस समय वन के वन-पालक (माली) ने प्रसन्न और पुलकित होकर सभा में प्रवेश किया और राजा श्रेणिक को प्रणाम किया। उसने वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त और शिशिर छहों ऋतुओं के अनुपम फूल-फल राजा के सम्मुख रखे, अर्थात् राजा को भेंट दिये।)

'हाथजोरि बिनवै वनपाल। विपुलाचल पर्वत के भाल।
वर्द्धमान तीर्थंकर आप। आये राजन-पुन्य प्रताप ॥५॥
महिमा कछु बरनी नहिं जाय। इन्द्रादिक सेवैं सब पाय।
समोसरन संपति की कथा। मोपै कही जाय किमि तथा ॥६॥

(वनपाल (माली) ने हाथ जोड़कर राजा को प्रणाम करके उनसे प्रार्थना की—

महाराज, विपुलाचल पर्वत के (मस्तक) ऊपर तीर्थंकर वर्द्धमान आये हैं। और यह सब आपके (भव्यों के) पुण्य का प्रताप है। उन तीर्थंकर प्रभु की महिमा में वर्णन (कथन) में नहीं आ सकता। इन्द्रादिक उनके चरण-कमलों की सेवा करते हैं। तीर्थंकर का अपूर्व समवसरण है, उस समवसरण-विभूति की महिमा मुझसे वर्णन नहीं की जा सकती अर्थात् मैं (अल्प बुद्धि) उसका बखान कैसे, क्यों कर, कर सकता हूँ—नहीं कर सकता।)

'माली वचन सुने सुखदाय। हरष्यो राजा अंग नमाय।
दीने भूषन-वसन उतार। वनमाली लीने सिरधार ॥७॥
सात पैंड गिरि-सम्मुख जाय। कियो परोच्छ-विनय नरराय
आनंद-भेरि नगर में दई। सब ही कौ दरसन रुचि भई ॥८॥

(माली के सुखद वचन सुनकर राजा फूले नहीं समाये, अर्थात् अति प्रसन्न हुए। उसने हर्ष में अपने वस्त्राभूषण उतार कर (सुखद सन्देश लाने के उपलक्ष्य में) वनमाली को दे दिये और वनमाली ने उन्हें आदरपूर्वक ग्रहण किया। तदनन्तर राजा ने विपुलाचल की दिशा में सात पद चलकर तीर्थंकर वर्द्धमान को परोक्ष रूप में प्रणाम (वन्दन) किया और नगर में (शुभ सूचना-संबंधी) भेरी बजवाई अर्थात् विपुलाचल पर तीर्थंकर देव के पधारने की घोषणा कराई, जिससे समस्त नगरवासियों को दर्शन की रुचि हुई।)

'चल्यौ संग पुर-जन समुदाय। बंदे वर्धमान जिनराय।
लोकोत्तर लछमी अवलोक। गये सकल भूपति के सोक ॥९॥
थुति आरम्भ करी बहुभाय। बार-बार भुवि सीस नवाय।
गौतम गुरु पूजे कर-जोरि। नर कोठैं बैठ्यो मद-छोरि ॥१०॥

(राजा श्रेणिक समवसरण की वन्दना के लिए गये और उनके साथ पुर-वासियों का समुदाय भी गया। सबने वर्द्धमान जिन की वन्दना की। समवसरण-संबंधी लोको-

त्तर-विभूति को देखकर राजा को अत्यन्त प्रसन्नता हुई अर्थात् उसकी चिन्ताएँ मिट गईं। उसने अनेक प्रकार की स्तुतियाँ की और बारम्बार मस्तक को पृथ्वी पर नवाया—नमस्कार किया। हाथ जोड़कर गौतम गणधर की पूजा की और मद छोड़कर सरल भाव से नर-कोष्ठ में जाकर जिनेन्द्र-स्तुति का गान किया और सपरिवार देशना-श्रवण-हेतु यथास्थान बैठ गया।)

दिव्यध्वनि : रसायन-गंगा

'जिनवचन-रसायनं दुरापं श्रुतियुगलांजलिना निपीयमानम्।
विषय-विष तृषामपास्य दूरं कमिह करोत्यजरामरं न भव्यम्॥

(जिनवाणी रसायन है, वह भाग्य से मिलती है। इसे कर्ण-युगल की अंजलियों से भरकर उल्लासपूर्वक पीने वाला कौन पिपासु विषय-विष को दूरकर अजर-अमर पद को प्राप्त नहीं करता ?)

"वीर-हिमाचल तैं निकसी, गुरुगौतम के मुखकुंड ढरी है।
मोह-महामद भेदचली, जग की जड़तातप दूर करी है॥१॥
ज्ञान-पयोनिधि माँहि रली, बहुभंग तरंगनि सौं उछरी है।
ता शुचि शारद गंगनदी प्रति मैं अंजुली कर शीष धरी है॥२॥
या जग-मंदिर में अनिवार, अज्ञान अंधेर छयो अति भारी।
श्री जिन की धुनि दीपशिखा सम जो नहिं होत प्रकाशन हारी॥३॥
तो किहिं भाँति पदारथ पाँति कहाँ लहते रहते अविचारी।
या विधि सन्त कहें धनि हैं, धनि हैं जिन-बैन बड़े उपकारी॥४॥

—भूधरदास, जैनशतक १५।

(हे दिव्यध्वनि, तू पवित्र गंगानदी की भाँति तीर्थंकर महावीर-रूपी हिमालय से निकलकर गौतम गणधर के मुखरूपी कुण्ड में प्रवाहित है। वहाँ से चलकर तू मोहरूपी पर्वत को छिन्न-भिन्न कर संसार के जड़तारूपी आतप को दूर करती हुई ज्ञानरूपी सागर में जा मिली है। तुझ में सप्तभंग (स्याद्वाद) रूपी लहरें उच्छलन करती हैं। ऐसी पावन गंगा रूपी पवित्र सम्यक्-वाणी को मैं कर-कमलों से सदा नमस्कार करता हूँ। इस संसार रूपी मंदिर में अज्ञान का दुर्निवार, घनघोर अन्धकार छाया हुआ है, यदि इसमें तीर्थंकर महावीर की दीपक की (अकम्प) लौ-सी दिव्य-ध्वनि प्रकाश न करती तो विश्व के समस्त पदार्थ कैसे जाने जाते? सन्त पुरुष कहते हैं कि तीर्थंकर महावीर की दिव्यवाणी उपकार करने वाली है। अतः धन्य है, धन्य है, मंगलमय है।)

इधर विख्यात ब्राह्मण विद्वान् इन्द्रभूति गौतम तो तीर्थंकर के प्रमुख गणधर बन ही चुके थे। उनके साथ अग्निभूति-वायुभूति ब्राह्मण विद्वान् भी अपनी शिष्य-मण्डली सहित श्रद्धानी और समवसरण के पात्र बने। इनके शिष्य-प्रशिष्यों की भी

कमी नहीं थी, सभी ने समवसरण का लाभ लिया। उधर राजगृही (मगधदेश) के नरेश श्रेणिक (बिम्बसार) भी समवसरण में सपरिवार बैठे थे। अन्य एकादश सभागृह भी खचाखच भरे थे। जो समवसरण अब तक दिव्यध्वनि से शून्य था—उसकी द्वादश सभाओं में अपूर्व उल्लास, उत्साह एवं शान्ति का वातावरण था।

इन्द्रभूति गौतम, जिनकी उपस्थिति दिव्यध्वनि के निमित्त अपरिहार्य थी, जन्मजात ब्राह्मण थे। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के गणपति वृषभसेन थे। उपलब्ध प्रमाणों से ऐसा प्रतीत होता है कि—पूर्वकाल से ही आध्यत्मिक विद्या के जनक क्षत्रिय रहे और उस विद्या का प्रचार-प्रसार ब्राह्मणों ने किया। इसकी पुष्टि छान्दोग्योपनिषद् के शांकर भाष्य से भी होती है—

'यथेयं प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति।
तस्मात्तु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूत्॥

—छान्दोग्योपनिषद् ५।३।७

'तत्रास्ति वक्तव्यं-यथा तेन प्रकारेण इयं विद्या प्राक् त्वत्तो ब्राह्मणान् न गच्छति न गतवती, न च ब्राह्मणा अनया विद्यया अनुशासितवन्तः यथा एतत् प्रसिद्धं लोके यत.। तस्माद् पुरा पूर्वं सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव क्षत्रजातेरेव अनया विद्यया प्रशासनं प्रशास्तृत्वं शिष्याणामभूत बभूव। क्षत्रिय परंपरयैवेयं विद्या एतावन्तं कालमागता। तथाप्येतां अहं तुभ्यं वक्ष्यामि। त्वत् संप्रदानादूर्ध्वं ब्राह्मणान गमिष्यति। अतो मया यदुक्तं तत्क्षन्तुमर्हसीत्युक्त्वा तस्मै ह उवाच विद्यां राजा।"

—छान्दोग्योपनिषद्, शंकरभाष्य ५।७

क्षत्रियों से पूर्व अध्यात्म विद्या ब्राह्मणों को प्राप्त नहीं हुई अतएव यह मान्यता युक्ति-युक्त है कि सम्पूर्ण लोक पर क्षत्रियों का ही प्रशासन था। (ऋषभं पार्थिव-श्रेष्ठं सर्व क्षत्रस्य पूर्वजम्। ब्रह्माण्डपुराण २।१४) गौतम को ब्रह्मविद्या संबंधी प्रश्न करते सुनकर उस क्षत्रिय नृपति ने कहा (उसी वक्तव्य को कहते हैं)—यह लोक-प्रसिद्ध है कि यह विद्या तुमसे पूर्व ब्राह्मणों को प्राप्त नहीं हुई और न ही वे इस विद्या से अनुशासित हुए। इससे पूर्व समस्त लोक पर क्षत्रिय जाति का ही इस विद्या द्वारा प्रशासन हुआ। यद्यपि क्षत्रिय-परम्परा से ही यह विद्या अब तक प्रवृत्त रही, तथापि अब मैं इसे बताऊँगा। आज से तुम्हारे पश्चात् यह ब्राह्मणों में फैलेगी। अतः मैंने जो कहा उसे क्षमा करना। तदनन्तर राजा ने विद्योपदेश किया।

समवसरण के शान्त वातावरण में तीर्थंकरों की दिव्य-ध्वनि (देशना) होती है। एक तो वहाँ साक्षात् तीर्थंकर विराजमान; दूसरे धर्मदेशना का पुण्यस्थान। ऐसे पुण्यस्थल पर शान्ति होना स्वाभाविक है। प्राचीन काल से ही ऐसी परिपाटी

रही है कि धर्मस्थान में कोलाहल वर्ज्य रहता था। धर्मसभा अन्ततः धर्मसभा ही है, वह कोई अखाड़ा तो है नहीं; फिर जहाँ आत्मशान्ति की ही चर्चा हो, वहाँ बाह्य अशान्ति को प्रश्रय कैसे? समवसरण की रचना अत्यन्त सुव्यवस्थित थी; ऐसी अनुशासनबद्ध कि जहाँ भिन्न जाति के जीव पशु-पक्षी, देव-देवियाँ, नर-नारियाँ, सब यथास्थान निर्बाध, शान्त चित्त से बैठ सकें। आज भी यदा-कदा धर्म-सभा की शान्ति (समवसरण की शान्ति का स्मरण कराती हुई) दृष्टिगोचर हो जाती है। वहाँ भिन्न जाति-सम्प्रदाय के श्रोता मौन बैठे, एकाग्र चित्त से धर्मलाभ लेते हैं। (यहाँ लेखक की दृष्टि १०८ पूज्य मुनिश्री विद्यानन्दजी महाराज की प्रवचन-सभाओं पर जाती है—जहाँ हजारों लोग धर्म-श्रवण करते हैं।) वास्तव में धर्म-सभा शान्त वातावरण में ही सम्पन्न हो सकती है, क्योंकि मूलतः धर्म का संबंध आत्मशान्ति से है।

समवसरण के सुखद शान्त वातावरण में तीर्थंकर की दिव्य देशना हुई। गौतम गणधर ने उसे सांगोपांग ग्रहण किया और भव्य जीवों को उसके नवनीत का रसास्वादन कराया। उन्होंने अनेक जिज्ञासाओं का समाधान भी किया। सभा-प्रमुख राजा श्रेणिक (विम्वसार) ने समय-समय पर अनेक प्रश्न किये, जिज्ञासाएँ कीं। जिनका उन्हें समाधान मिला। प्रायः सभी स्तर के प्रश्न थे। यद्यपि तीर्थंकर की दिव्य देशना अर्धमागधी में ही हुई; तथापि वह सुगम-सुबोध थी; क्योंकि वह प्राकृत-संबंधी प्रकृति की भाषा थी और प्रकृति की भाषा समस्त जीवों को सरलता से बोध देनेवाली होती है। यही कारण है कि सिद्धान्त-रचना और प्रतिपादन में भी प्राकृत को ही सर्व-प्रथम ग्रहण किया गया है—

> 'बाल-स्त्री-मन्द-मूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणाम्।
> प्रतिबोधाय तत्त्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः॥

तीर्थंकर की ध्वनि जन-भाषा में होती थी—'सर्वार्थ मागधीया भाषा मैत्री च सर्वजनताविषया।'—नंदि ४२। प्रत्येक श्रोता उसे सुगमता से समझ लेता था। उपदेश में तात्त्विक विवेचन तो होते ही थे साथ ही उसमें लोक का विवरण क्षेत्र-भू-पर्वतादि-परिचय, शलाका-पुरुष-इतिहास, गृहस्थ-मुनिधर्म आदि की विशद व्याख्या भी अन्तर्भूत होती थी। आगे चलकर इसी ध्वनि की परम्परा में जैनाचार्यों ने विविध विषयों के विशद ग्रन्थों की रचना की जैसा कि शास्त्रारम्भ में पढ़ा जाता है—

'अस्य मूलग्रन्थ कर्तारः श्री सर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषांवचोऽनुसारमासाद्य ...'। फलतः जो लोग श्रीमदाचार्य कुन्दकुन्द को भी केवल अध्यात्म का प्रवक्ता मात्र मानते हैं वे भी भ्रम में हैं।

तीर्थंकर महावीर-वर्द्धमान का देशना-काल २९ वर्ष ५ माह २० दिन रहा।[1] इस काल में उन्होंने अनेकानेक स्थानों पर विहार किया, देशना की, जन-जन को संबोधित किया। इनमें से प्रमुख देशों के नामों का शास्त्रों में भी उल्लेख हुआ है[2] यथा—

'इच्छाविरहितः सोऽपि भव्यपुण्योदयोदितः ।
विहारमकरोद् देशनार्थान् धर्मोपदेशयन् ।।

काश्यां कश्मीरदेशे कुरुषु च मगधे कौशले कामरूपे,
कच्छे काले कलिंगे जनपदमहिते जांगलान्तेंकुरादौ ।।

किष्किन्धे मल्लदेशे सुकृति जनमनस्तोषदे धर्मवृष्टिं ।
कुर्वन् शास्ता जिनेन्द्रो विहरति नियतं तं यजेऽहं त्रिकालं ।।

पांचाले केरले वाऽमृतपदमिहिरोमन्द्रचेदी दशार्ण—
बंगांगान्ध्रोलि कोशीनरमलयविदर्भेषु गौडे सुसह्ये ।।

शीतांशुरश्मिजालादमृतमिव समां धर्मपीयूषधारां ।
सिंचन् योगाभिरामः परिणमयति च स्वान्तशुद्धिं जनानाम् ।। —प्रतिष्ठा पाठ 9,6

---

* 'वासाणूणत्तीसं पंच य मासे य वीसदिवसे य ।
चउविह अणगारेहि य वारह दिणेहि (गणेहि) विहरित्ता ।। —जयधवला खं. पु, 81.

2 आशाः स्वच्छतां जगमुर्जिनेन्द्रोदयदर्शनात् ।
लोकेऽगस्त्योदये यद्वत्कलुषाश्च जलाशयाः ।।
काशि कौशल कौशल्य कुसंध्यास्वप्टनामकान् ।
साल्वत्रिगर्तं पंचाल भद्रकार पटच्चरान् ।।
मौकमत्स्याकनीयांश्च सूरसेन वृकार्थपान् ।
मध्यदेशानिमान् मान्यान् कलिंग कुरुजांगलान् ।।
कैकेयाऽऽत्रेयकांबोज बाल्हीक यवनश्रुतीन् ।
सिन्धु गांधार सौवीर सुरभीरुदशेरुकान् ।।
वाडवान भरद्वाज क्वाथतोयान् समुद्रजान् ।
उत्तरांस्तार्णकार्णेश्च देशान् प्रच्छालनामकान् ।।
धर्मेणायोजयद्वीरो विहरन् विभवान्वितः ।
यथैव भगवान पूर्वं वृषभो भव्यवत्सलः ।।
—हरिवंशपुराण, 2।146-147 व 3।1-7.

(तीर्थंकर वर्द्धमान ने मध्यदेश [भारत का मध्यवर्ती भाग] में धर्म देशना का प्रवर्तन किया। वे अन्य देशों मे भी गये। जिनेन्द्र प्रभु के दर्शन से समस्त दिशाएं [व वहां के जीव] स्वच्छता (निर्मल हृदयता) को प्राप्त हो गये जैसे मानों अगस्त्य। [नक्षत्र व समुद्र पक्ष में अगस्ति] तारा के उदय होने पर तालाबों को [कीचड़ रूपी] कलुषता दूर हो जाती है। तीर्थंकर वर्द्धमान ने काशी, कौशल, त्तौशल के निकटवर्ती आठ अन्य देशों, साल्व, त्रिगर्त, पांचाल, भद्रकार, पटचर, मौक, मत्स्य, कनीय, सूरसेन, वृकार्थ, कलिंग, कुरुजांगल, कैकेय, आत्रेय, काम्बोज, बाल्हीक, यवन सिन्धु, गान्धार, सौवीर, सूर, भीरु, दशेरुक, वाडवान, भरद्वाज, क्वाथतोय, और [समुद्रवर्ती देश, उत्तर के तार्ण, कार्ण और पृच्छाल नामक देशों में धर्म प्रसार (विहार) किया जैसा कि तीर्थंकर आदिनाथ भक्तवत्सल [भव्यप्रिय] ने किया था।)

दिव्यध्वनि[1] की दिव्यता उसकी कथन के शैली-शिल्प से भी है। वह जीवों के संशयों, उनके विपर्यास, अनध्यवसाय का निराकरण करके अपेक्षावाद की दृष्टि से तत्त्व की विवेचना करती है। अनंतधर्मात्मक वस्तु का कथन एकान्तवाद से नहीं होता, उसमें अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंग ही कार्यकारी होते हैं। यही कारण है कि अनेकान्तमयी वाणी को विरोध-मथनी वाणी कहकर नमस्कार भी किया गया है— "विरोध मथनम् नमाम्येनेकान्तम्।" अनन्तधर्मा पदार्थ का सप्तभंगी दिव्यध्वनि से ही प्रकाश हो सकता है। "अनन्त धर्मेष्वपि सम्भवन्तीमर्हन्तु दिव्यध्वनि सप्तभंगीम्।" प्रति, ति. ११।१४, पृ. ५६९। जब अन्य वाणियों से सर्वजनमनस्तुष्टि नहीं हो पाती, ज्ञान के विषय में वे विप्लवग्रस्त रहते हैं, तब अनेकान्तमयी स्याद्वाद वाणी समस्त संशयों का निराकरण कर देती है, अर्थात् स्याद्वाद समस्त वादों के लिए उसी प्रकार है जिस प्रकार वन में केशरी (सिंह) के आने पर छोटे-मोटे सब जीव-जन्तु निष्प्रभ हो जाते हैं। स्याद्वाद की उपस्थिति में अन्य सब वाद प्रभावशून्य हैं। जिनवाणी - स्याद्वाद अनेकान्त-सप्तभंगमयी है, वह अद्वितीय है, इसकी उपमा अन्यत्र नहीं है। कहा भी है—

'कैसे करि, केतकी कनेर एक कहे जायँ,
आक-दूध, गाय-दूध अन्तर घनेरे हैं।
पीरी होत रीरी[2] पै न रीस[3] करै कंचन की,
कहाँ कागबानी, कहाँ कोयल की टेर है।
कहाँ भानु-भारो[4] कहाँ आगिया[5] विचारो कहाँ—
पूनों को उजारो, कहाँ मावस अंधेर हैं।
पच्छ छोरि पारखी निहार नैकु नीके नैन,
जैन-बैन और-बैन एतो ही तो फेर है ॥

—भूधरशतक

ऐसी अनुपम दिव्य देशना का लाभ जिन जीवों को प्राप्त हो उनका अहोभाग्य है, वे धन्य हैं। गौतम गणधर ने जो सुना-समझा, वह एकत्रित जीवों को बताया — उसमें गणधर का अपना कुछ नहीं था। यही बात अन्य आचार्यों ने भी स्पष्टतः कही है।

वीर-मुह-कमल-णिग्गय-सयल-सुयग्गहण-पयडण-समत्थं।
णमिऊण गोयमहं सिद्धंतालावमणु वोच्छं॥ गो. जी. ७२८

1. साक्षर एवं च वर्णसमूहान्नैव विनार्थगतिर्जगति स्यात्। —भ. जिनसेनाचार्य, म. पु., 23173.
2. पीतल, 3. समता, 4. सूर्यतेज, 5. जुगनू

जिनकी धुनि है

तीर्थंकर की दिव्यध्वनि सर्वांगीण और ॐकार रूप होती है[1] और उसमें सब जीवों की जिगमिषा (जानने की इच्छा) के समाधान का सामर्थ्य होता है। समस्त प्राणी उसे अपनी-अपनी भाषा में समझ जाते हैं, और यह सर्वथा संभव है क्योंकि जब शान्त वीतराग मुनिमुद्रा को देखकर मन के विकार शान्त होते देखे जाते हैं जबकि हम देख रहे हैं कि दर्शक और शान्त मुनि, परस्पर पर्याप्त अन्तर पर हैं—एक का दूसरे से कोई स्पर्श नहीं है तो फिर ध्वनि तो भव्यजीवों के कर्ण-पटल से टकराकर, तीर्थंकर अंग से निःसृत ध्वनि-वर्गणाओं का उनसे साक्षात् स्पर्श कराती है। ये वर्गणाएँ स्वयं सशक्त और पवित्र हैं, सब कुछ करने में समर्थ हैं। भला, जिनके प्रभाव से सौ-सौ योजन तक सुभिक्ष हो जाता हो, उनकी ध्वनि-वर्गणाओं का स्पर्श पाकर जिगमिषा पूर्ण सुहागन होती है तो कौन-सी बड़ी बात है?

ॐकार रूप

कहा ऐसा गया है कि—'जिनकी धुनि है ॐकाररूप। निर-अक्षरमय महिमा अनूप।' और 'ॐकार धुनिसार द्वादशांग वाणी विमल।' ॐकार पद बड़े महत्त्व का पद है। इसमें पंचपरमेष्ठी का अप्रतिम प्रेरक व्यक्तित्व गुंथा हुआ है। जगत् में भी ॐकार की महिमा गाई गई है; इसीलिए प्रायः सब इसी का पाठ करते हैं। हो सकता है कि इसमें यह भी एक कारण हो कि जो ध्वनि तीर्थंकर के दिव्य शरीर से उद्भूत होकर भव्य जीवों को आनन्ददायक होती है, वह ध्वनि पवित्र होने के कारण (अनुकरण रूप में ही सही) हमें भी आनन्द देती हो?

निरक्षर रमय

तीर्थंकर की वाणी स्याद्वादमय होती है। कहा भी है—'सो स्याद्वाद मय सप्तभंग। गणधर गूंथे बारह सुअंग।'—स्याद्वाद[2] का अर्थ ही यह है कि पदार्थ की विवेचना समस्त अपेक्षाओं से की जाए। जब सब की अपेक्षाएँ उस वाणी में निहित हैं तब सब के द्वारा अपनी-अपनी अपेक्षा (स्व+अर्थ) से उसका भाव लेना अशक्य भी नहीं है। लोक में भी ऐसा देखा जाता है कि जहाँ स्याद्वाद का प्रयोग है, वहाँ समाधान भी सहज हो जाता है। तीखे-से-तीखे विवाद शान्त हो जाते हैं। स्याद्वाद विषय ही ऐसा व्यापक

---

1. कहीं-कहीं ध्वनि को मेघगर्जनावत् गंभीर बतलाया है।
2. 'उपयोगी श्रुतस्य द्वौ स्याद्वाद-नयसंज्ञितौ।
   स्याद्वादः सकला देशो, नयो विकल्प संकथा॥ —लघीयस्त्रय 62.
   'स्याद्वाद:-स च तिङन्त प्रतिरूपको निपातः। तस्याऽनेकान्तविधि विचारादिषु बहुष्वर्थेषु संभवत्सु इह विवक्षावशावनेकान्तार्थो गृह्यते।' —राजवार्तिक, पृ. 181.
   'निर्दिश्यमान धर्मव्यतिरिक्ता शंष धर्मान्तर संसूचकेन स्यात् युक्तो वाक्योऽभि प्रेतधर्मवचनं स्याद्वादः।
   —न्यायावतार टीका, पृ. 93

और गहन गम्भीर है कि जिसका विस्तृत समीक्षण यदि किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ में किया जाए तो उस ग्रन्थ की कई जिल्दें अपेक्षित होंगी, अतः इस विषय पर हम फिर कहीं लिखेंगे; यहाँ तो तीर्थंकर की दिव्य देशना को ही अंकित करना हमारा मुख्य प्रयोजन है।

महिमा अनूप

शास्त्रों में वाणी को गंगा की उपमा दी गई है, अर्थात् जिस प्रकार लोकगंगा में अवगाहन कर हम अपने तन के मैल को धो लेते हैं, उसी प्रकार जिनवाणी में अवगाहन चित्त को निर्मल कर देता है। भव्यजीव वाणी-रूपी गंगा में स्नान करते हैं। गंगा की कल्लोलों की भाँति वाणी में भी नय-रूपी कल्लोलें हैं। वाणी-रूपी गंगा भव्य जीवों को ज्ञान में स्नान कराकर उनके पाप-मलों--विकारों को धो डालती है। जैसे—

'यदीया वाग्गंगा विविधनय कल्लोलविमला।
बृहज्ज्ञानांभोभिर्जगति जनतां या स्नपयति ।।

जिनवाणी-रूपी गंगा में ज्ञानरूपी अथाह जल है। उसका माप करना दुष्कर है, उसका गूंथना असंभव है। भला, जिनकी वाणी का अनन्तवाँ भाग श्रुतकेवली के भाग में आया हो और क्रमशः जिसके ग्रहण करने में परम्परा या शक्ति की असमर्थता होती गई हो, उस वाणी के रहस्य को प्रकट करना--हम मन्दतम बुद्धियों के लिए कैसे संभव हो सकता है? अतः इस विषय में हमारा मौन ही श्रेष्ठ है। फिर भी जैसे पिक अम्बकली के प्रभाव से वसन्त में मधुर शब्द करती है, वैसे ही तीर्थंकर और उनकी वाणी में भक्तिभाव ही हमें प्रेरित करते हैं; अतः परम्परागत आचार्यों के कुछ वचन यहाँ अंकित करने का साहस कर रहे हैं।

देशना : फलित रेखा

तीर्थंकर वर्द्धमान की सभा में राजा श्रेणिक मनुज-प्रमुख थे। दिव्यध्वनि के बाद गौतम गणधर प्रश्नोत्तररूप में जिनवाणी का रहस्य लोगों पर उद्घाटित करते थे। राजा श्रेणिक ने कई हजार प्रश्न पूछे। उन्होंने गौतम गणधर से इतने दिनों ध्वनि न खिरने का कारण भी पूछा। गणधर ने बताया कि एक कार्य के कई कारण होते हैं। कुछ अंतरंग और कुछ बहिरंग। दिव्यध्वनि न होने में अंतरंग कारण तो भव्यजीवों के भाग्योदय का न होना है और बहिरंग कारण गणधर का अभाव है। कहा भी है—

भविभागन वच-जोगे वशाय, तुम धुनि ह्वै सुनि विभ्रम-नशाय।
—पं. दौलतराम।

हे जिनवर, आपकी भ्रमनाशिनी दिव्यध्वनि, भव्यजीवों के भाग्य से और आपके वचन-योग से आपकी ध्वनि होती है। और सब भ्रमों (संशयों) का उच्छेद कर देती है। सच है जब साधारण-से-साधारण लाभ भी बिना भाग्योदय के नहीं होते, तब दिव्य-ध्वनि-रूपी (मिथ्यातम के नाश में मूलभूत) देशना पुण्योदय के विना कैसे संभव हो सकती है ?

गौतम गणधर के अभाव में ६६ दिनों तक दिव्यध्वनि नहीं हुई। श्रेणिक ने कहा—'इन्द्र तो सब जानते थे, उन्होंने गणधर को इतने काल तक क्यों नहीं खोजा ? गौतमस्वामी ने कहा—दिव्यध्वनि तथा भव्यजीवों के पुण्य की काललब्धि नहीं आई थी[1]। ठीक है--काललब्धि के बिना कुछ नहीं होता; जो जैसा होगा वह काललब्धि पर ही होगा।

दिव्यध्वनि की एकरूपता

तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर के समय में देश में हिंसा का विकराल ताण्डव था। वातावरण विषाक्त था। यज्ञ-धर्म के नाम पर सैकड़ों निरीह पशुओं को अग्नि में होम दिया जाता था, जिसे जैन-वाङ्मय के प्रकाश में घोर पाप माना गया है। इसलिये प्रचार में आ गया कि 'महावीर ने उस हिंसा को रोका' (किन्हीं आचार्यों द्वारा हुआ ऐसा लिपिबद्ध उल्लेख हमारी दृष्टि में नहीं आया और न किसी यज्ञ-भूमि में पहुँचकर वीर प्रभु ने इसका निषेध किया हो ऐसा ही देखने में आया। जैन-शास्त्रों के अनुसार तो तीर्थंकर केवलज्ञान से पूर्व उपदेश नहीं देते और केवलज्ञान के वाद उनकी दिव्यध्वनि मात्र होती है, वह भी इच्छा-रहित ही होती है।) हमारी दृष्टि में यह प्रचार केवल जैनाचार में अहिंसा की सूक्ष्म प्रक्रिया के प्रकाश में ही किया गया प्रतीत होता है।

तीर्थंकर की दिव्यध्वनि में हिंसा की घोर-से-घोर हानियाँ गर्भित थीं, इसे पूर्ण और घोरतम पाप बताया गया था, जैसा कि आचार-शास्त्र के सभी ग्रंथों में मिलता है। यह वास्तविकता का वैसा ही दिग्दर्शन था जैसा कि झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह को लक्ष्य करके समझा गय ा है, तत्त्वों के वर्णन में समझा गया है। तीर्थंकर ने मुनि और श्रावक के आचार, तत्त्व-विवेचन आदि के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म मर्मों का उद्घाटन किया। इस रहस्योद्घाटन में अन्य पूर्व तीर्थंकरों से उनका कोई विरोध नहीं था। जो चीजें जिस रूप में २३ तीर्थंकर की वाणी में थीं, वे ही सब महावीर की देशना में थीं। सर्वत्र एकरूप केवलज्ञान सब में एक जैसा था, अतः महावीर ने किसी व्यक्ति-विशेष, या पदार्थ

1 'जं जस्स जम्हि देसे जेण विहाणेण जम्हि कालम्मि। णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा ।।
तं तस्स तम्हि देसे तेण विहाणेण तम्हि कालम्मि। को सक्कदि वारेदुं इंदो वा तह जिणिंदो वा ।।'

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा

को लक्ष्य में रखकर किसी बात का विवेचन नहीं किया। हाँ, गौतम गणधर ने अवश्य प्रश्नों के उत्तर दिये थे। अस्तु यह ठीक है कि महावीर द्वारा उपदिष्ट अहिंसा का यज्ञादि पर प्रभाव पड़ा हो, और यज्ञ की हिंसक प्रवृत्ति धर्म के स्थान पर अधर्म का नाम पा गई हो।

देशना में सर्वप्रथम मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग फलित किया गया है; क्योंकि सब जीव सुख चाहते हैं और सुख का सच्चा स्वरूप मोक्ष है। आत्मा का स्वाभाविक शाश्वत स्वरूपाचरण ही मोक्ष है।[2] मोक्षमार्ग दिखलाने के लिए मोक्षमार्ग के विपक्षी संसार की विवेचना भी की गई है, क्योंकि विपक्षी पदार्थ के ज्ञान के बिना वस्तु की यथार्थता समझ में नहीं आती। इस प्रकार देशना इस उभय विधि-विवेचन में पूर्ण हो जाती है। सांसारिक पदार्थ, आचार-विचार आदि सभी बातों के विवेचन को गणधर देव तथा उत्तरवर्ती आचार्यों ने चार अनुयोगों में विभाजित किया है। प्रथमानुयोग में कथा-साहित्य, करणानुयोग में लोक-व्यवस्था, द्रव्यानुयोग में पदार्थों का स्वरूप और चरणानुयोग में मुनिधर्म व श्रावक-धर्म के आचार का वर्णन है। कथा-साहित्य समय-समय में होने वाले महान् लोक-पुरुषों के चरित्रों से वृद्धिगत होता गया। लोक-व्यवस्था तद्वस्थ है, द्रव्य भी तद्वस्थ हैं—इनमें कोई परिवर्तन नहीं। स्वाभाविक रीति से मुख्य आचार भी ज्यों-का-त्यों है। हाँ, व्यवहाराचार में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा को स्थान दिया गया है। इसीलिए आचार-विचार में समय-समय पर अन्तर दृष्टिगोचर होता रहा है।

देशना-रेखा

'णमो सिद्धाणं' यह पद जैन-दर्शन का चरम लक्ष्य है और सिद्धत्व की साधना में धर्म की शरण ही सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। 'सिद्ध' का तात्पर्य कृतकृत्य और सर्वकर्म-विप्रमोक्ष के उस भाव में है जो साधु और अरहन्त के पदों के पश्चात् होता है। अरहन्त, सिद्ध, और साधु ये मंगलोत्तम और शरणभूत हैं। तीर्थंकर ने इसी परम्परा को स्थिर रखने और आगे बढ़ाने में योग दिया है। तीर्थंकर महावीर की देशना को उनके प्रमुख गणधर गौतम स्वामी ने इस प्रकार शब्दबद्ध किया कि उसमें जीव की अनादिकालीन मलिनता से लेकर उसके शुद्ध-सिद्ध होने की समस्त पर्यायों-गतिविधियों का समावेश हो गया। उन्होंने कहा—'यह संसार अनादि है, इसमें षड् द्रव्यों के निवास का स्थान 'लोक' कहलाता है। जीव राग-द्वेष-मोह के कारण इस लोक में चारों गतियों में परिभ्रमण करता, जन्म-मरण करता है। इससे छुटकारा पाने के लिए उसे प्रतिक्षण 'पंच णमोकार मंत्र' एवं 'मंगलोत्तमशरण पाठ' का मनन-चिन्तन और तदनुरूप आचरण करना चाहिये।' वे कहते हैं—

2 'निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलंकस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविकज्ञानादिगुणमव्याबाधसुखमात्यंतिकमवस्थान्तरं मोक्षः।

—पूज्यपाद स्वामी

"अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और लोक के सर्वसाधुओं को नमस्कार हो। लोक में अरहंत, सिद्ध, साधु और केवली-कथित धर्म ये चार मंगल हैं। अरहंत, सिद्ध, साधु और केवली कथित धर्म ये चारों, लोक में उत्तम हैं। मैं अरहंत, सिद्ध, साधु और केवली-कथित धर्म की शरण जाता हूँ-शरण को प्राप्त होता हूँ।[1]

(उक्त मंत्र एवं पाठ जैनों के सभी समुदायों में समानरूप से हिमालय से कन्याकुमारी तक और अन्यत्र भी एक जैसे ही पाये जाते हैं। अतः इन सभी सम्प्रदायों में मूलभूत तत्त्व समान-एक ही हैं। काल-दोष से कालान्तर में विभिन्न पंथ बन गये। यथाजातमुद्रा प्रकृति को भी स्वीकार है; अतः मोक्षमार्ग में वही आदरणीय है।)

साधु-संस्था मोक्ष-महल की प्रथम सीढ़ी है—इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की आभा प्रतिफलित है और इसी आभा के बल पर साधुजन, उपाध्याय, आचार्य, अरहंत और सिद्ध जैसे उत्कृष्ट पदों को पा सकते हैं। साधु-पद की भूमिका में श्रावकाचार की पूर्णता है; अर्थात् श्रावकाचार (मुनि होने के लिए) अभ्यास-मार्ग है, अतः मुमुक्षु का कर्तव्य है कि वह श्रावक बने और धीरे-धीरे अभ्यास करते हुए, क्रमशः सिद्ध पद तक पहुँचे। ऊपर जिन सम्यग्दर्शन, ज्ञान और सम्यक्-चारित्र का उल्लेख किया, उनका संक्षेप इस प्रकार है—'क्योंकि ये तीनों रत्न कहलाते हैं और श्रावक तथा मुनि दोनों में मूलरूप से कार्य करते हैं, अतः इन्हें जान लेना भी आवश्यक है। सुप्रयुक्त सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता से संयुक्त आत्मा को मोक्षलक्ष्मी प्राप्त होती है।[2]

सम्यग्दर्शन : जीव आदि तत्त्वों-पदार्थों का श्रद्धान निश्चय ही सम्यग्दर्शन है और वह स्वभाव तथा पर-निमित्तों से—दो प्रकार से होता है।[3] कहा भी है—'तन्निसर्गादधिगमाद्वा "तत्त्वार्थसूत्र १।३; तत्व का अर्थ है—'तस्यभावस्तत्त्वं। यः पदार्थः यथावस्थितः तस्य तथैव भवनं।'—सर्वार्थसिद्धिः। जो पदार्थ स्वाभाविक जिस रूप में है उस पदार्थ का विकार-रहित-अपने स्वरूप-मात्र में होना पदार्थ का अपना-तत्त्व-निजभाव है। उसमें पर-कृत-व्याधि, अर्थात् मलिनता का समावेश नहीं। उक्त प्रकार से सभी पदार्थ स्व-रूप में निश्चित हैं। इन पदार्थों में दृढ़ प्रतीति रखना, श्रद्धान में अकम्प रहना सम्यग्दर्शन है।

---

1. ' णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं।।
चत्तारि मंगलं, अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलीपण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा। अरहंता लोगुत्तमो, सिद्धा लोगुत्तमो, साहू लोगुत्तमो, केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो। चत्तारि सरणं पवज्जामि। अरहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।
2. 'सुप्रयुक्तैः स्वयं साक्षात् सम्यग्दृग्बोधसंयमैः।
त्रिभिरेवापवर्गश्री घनाश्लेषं प्रयच्छति ।।1।।
3. 'यज्जीवादि पदार्थानां श्रद्धानं तद्धि दर्शनम्।
निसर्गेणाधिगत्यावा तद्भव्यस्यैव जायते ।।2।।

सात तत्त्व : विद्वानों ने जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष को तत्त्व कहा है।[1] यदि इनमें पुण्य-पाप भी जोड़ लिये जाएँ तो ये ही नौ पदार्थ नाम पाते हैं। विश्व (तीनों लोकों) में इनके अतिरिक्त अन्य कुछ शेष नहीं है—इन्हीं में विश्ववर्ती पदार्थों का समावेश हो जाता है।

जीवतत्त्व : जीव का लक्षण उपयोग-ज्ञान-दर्शन है और ये दोनों अनन्तात्मक हैं। कहा भी है—'उपयोगो लक्षणम्" स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः।' —तत्वार्थ-सूत्र। उपयोग का विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि—'चैतन्यानुविधायी परिणामः उपयोगः।' —सर्वार्थ.। जीव का चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोग है। यह उपयोग जीव-जाति-मात्र में सदा काल पाया जाता है और जीव के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में नहीं पाया जाता। मुक्त जीव सदाकाल एकरूप-निज उत्पाद्-ध्रौव्यरूप स्वभाव में हैं और संसारी जीव चतुर्गति रूप बाह्य पर्यायों में भ्रमण करते हुए स्व-पर दोनों विवक्षाओं से उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्यरूप चैतन्य परिणामयुक्त हैं; अर्थात् मुक्त (शुद्ध) जीव दर्शन, ज्ञान, आनन्द, शक्तिपूर्ण, जन्म-मृत्यु आदि से होने वाले क्लेशों से रहित (सिद्ध) हैं। इन्हें परमात्मा भी कहते हैं।[2] और संसारी जीव गति के भेद से मनुष्य, देव, तिर्यञ्च और नारक इन चार भेदों में विभक्त हैं, जो कर्मों के अनुसार जन्म-मरण को धारण करते हैं।[3] स्थूल रीति से हम सात तत्वों और नौ पदार्थों को षड्द्रव्यों में गर्भित कर सकते हैं और षड्द्रव्य जीव-अजीव के अन्तर्भूत कहलाते हैं। योगीश्वरों ने जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल ये छह द्रव्य बतलाये हैं।[4] जीव के अतिरिक्त पाँच द्रव्य अचेतन हैं, पुद्गल को छोड़ पाँच द्रव्य अमूर्तिक हैं, तथा सभी पदार्थ वस्तुतः उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्य स्वभाव वाले हैं।[5]

अजीव तत्त्व : अजीव तत्त्व में पुद्गल रूप, रस, गंध और स्पर्श वाला है; रूपी है और अणु व स्कन्ध ऐसे दो भेदों वाला है।[6] धर्म द्रव्य जीव और पुद्गलों को गमन

1. 'जीवाजीवास्रवाबन्धः संवरो निर्जरा तथा।
   मोक्षश्चैतानि सप्तैव तत्त्वान्यूचुर्मनीषिणः ॥3॥
2. 'सिद्धस्त्वेकस्वभावः स्याद्दृग्बोधानंदशक्तिमान्।
   मृत्यूत्पादादिजन्मोत्थक्लेशप्रचयविच्युतः ॥4॥
3. 'चतुर्धागति भेदेन भिद्यन्ते प्राणिनः परम्।
   मनुष्यामरतिर्यंचो नारकाश्च यथायथम् ॥5॥
4. 'धर्माऽधर्मनभःकालाः पुद्गलैः सहयोगिभिः।
   द्रव्याणि षट् प्रणीतानि जीवपूर्वाण्यनुक्रमात् ॥6॥
5. 'अचिद्रूपा विनाजीवममूर्ता पुद्गलं विना।
   पदार्था वस्तुतः सर्वे स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकाः ॥7॥
6. 'अणुस्कन्धविभेदेन भिन्नाः स्युः पुद्गला द्विधा।
   मूर्तावर्णरसस्पर्शगुणोपेताश्च रूपिणः ॥8॥

में तथा अधर्म द्रव्य जीव और पुद्‌गल की स्थिति में सहकारी हैं और लोक-मात्र में व्यापक हैं ।[1] आकाश द्रव्य समस्त द्रव्यजाति मात्र को स्थान देता है और लोक-अलोक सर्वत्र व्याप्त है तथा स्वप्रतिष्ठित है। काल द्रव्य पदार्थों के पर्याय-परिणमन में कारणभूत है ।[2]

आस्रव तत्त्व : मन-वचन-काय की क्रिया योग कहलाती है और तत्त्वज्ञानियों ने उसी क्रिया को आस्रव कहा है। 'कायवाङ्मन: कर्मयोग:' 'स आस्रव:'।[3] –तत्त्वार्थसूत्र। इस आस्रव के द्रव्यास्रव, भावास्रव ये दो प्रकार हैं। दोनों प्रकार के आस्रवों की निवृत्ति के लिए गुप्ति का विधान किया गया है –'सम्यग्योगनिग्रहो गुप्ति:। –तत्त्वार्थसूत्र ९।४

बन्ध तत्त्व : योगों के होते हुए जीव यदि कषाय-युक्त होता है तो वह सब ओर से कर्म के होने से योग्य पुद्‌गल (कार्माण) वर्गणाओं को ग्रहण करता है और उनके बन्ध को करता है। इसी को जिनेन्द्रदेव ने बन्ध कहा है।[4] बन्ध के प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध, और प्रदेशबन्ध ये चार भेद हैं। –'प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधय:।' –तत्त्वार्थसूत्र । ८।२

संवर तत्त्व : अनादिकाल से कर्म-बन्धन में जकड़े हुए संसारी जीव में पूर्वकर्म-प्रकृतियों-राग-द्वेषादिक को निमित्त बनाकर जो कर्म–पुण्य-पाप (शुभ-अशुभ) रूप में आते हैं उनका रुकना अर्थात् सम्पूर्ण आस्रव का रुक जाना संवर है। यह द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है।[5] संवर किये बिना निर्जरा निष्फल है, अर्थात् मोक्ष नहीं हैं, अत: मुमुक्षु को संवर पर लक्ष्य देना चाहिये।

निर्जरा तत्त्व : संवरपूर्वक पूर्वसंचित कर्मों का तप-धर्म आदि द्वारा जीर्ण करना निर्जरा है। निर्जरा सविपाक और अविपाक दो प्रकार की है। सविपाक में कर्मफल देने के बाद झड़ते हैं और अविपाक में बिना फल दिये झड़ जाते हैं। जिस निर्जरा से जीव के जन्म-मरण रूपी संसार के कारणभूत कर्म झड़ जाते हैं, मुनिजनों ने उस निर्जरा को कार्यकारी (वास्तविक हितकारी) 'निर्जरा' कहा है।[6]

1. 'स लोकगगनव्यापी धर्म: स्याद्‌गति लक्षण:।
   तावन्मात्रोऽप्यधर्मोऽयं स्थितिलक्ष्य :प्रकीर्तित :।।9।।
2. 'अथकाशप्रदंव्योम सर्वगं स्वप्रतिष्ठितम्।
   परिवर्ताय भावानां कालद्रव्यं तु वर्णितम् ।।10।।
3. 'मनस्तनुवच: कर्म योग इत्यभिधीयते।
   स एवास्रव इत्युक्तस्तत्त्वज्ञान विशारदै: ।।11।।
4. 'यज्जीव: सकषायत्वात् कर्मणोयोग्यपुद्‌गलान्।
   आदत्तं सर्वतोयोगात् स बन्ध: कथितो जिनै: ।।12।।
5. 'सर्वास्रव निरोधो य: संवर: स प्रकीर्तित:।
   द्रव्यभावविभेदेन स द्विधा भिद्यते पुन: ।।13।।
6. 'यया कर्माणि शीर्यन्ते बीजभूतानि जन्मन:।
   प्रणीता यमिभि: सेयं निर्जरा जीर्ण-बन्धनै: ।।14।।

मोक्ष तत्त्व : योगी मुनियों ने मोक्ष को जन्म-सन्तति से उलटा निष्कलंक, निराबाध, सानन्द और स्व-स्वभाव से उत्पन्न होने वाला कहा है।[1] तीर्थंकर की दिव्य देशना का चरम लक्ष्य भी भव-व्याधि से छुटकारा दिलाना है। मोक्ष के प्रसंग में मत-मतान्तर मूल मार्ग से भटक गये हैं, उन सब का निराकरण करने के लिए आचार्य ने स्पष्टरूप से कहा है कि सिद्ध-दशा मोक्ष का और मोक्ष-दशा सिद्धत्व का प्रतिनिधित्व करते हैं—दोनों में अभेद-अभिन्नता है, अतः भव्यजीव का प्रयत्न मोक्ष-प्राप्ति में होना चाहिये। उक्त प्रकार सप्त तत्त्वों का श्रद्धान शंकादि २५ दोषों से रहित और अष्ट-गुण सहित करना ही सम्यग्दर्शन है। उक्त सम्यग्दर्शन ही सम्यग्ज्ञान में कारणभूत है, अतः सम्यग्दर्शन को मोक्ष का मूल बताया गया है। इसके बिना ज्ञान और चारित्र मोक्ष के मार्ग नहीं बन सकते।

सम्यग्ज्ञान : सम्यग्ज्ञान मोक्ष-मार्ग में द्वितीय रत्न है। केवली (अरहंत) अवस्था का ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान पूर्णतः सम्यग्ज्ञान है। इसके पहले के ज्ञान यदि सम्यग्दर्शन-युक्त हैं, तो वे भी अपनी-अपनी मर्यादा में सम्यक् हैं। संशय, विपर्यय और अनध्य-वसाय-सहित ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाते हैं। मिथ्याज्ञान भव-भ्रमण के कारण हैं। जिसमें त्रिकाल-गोचर अनन्त पदार्थ अपनी गुण-पर्यायों सहित अतिशयता के साथ प्रति-भासित होते हैं, उस ज्ञान को ज्ञानियों ने (पूर्ण) सम्यग्ज्ञान कहा है।[2] सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के भेद से पांच प्रकार का हैं।[3] जिन ज्ञानों में सम्यग्दर्शन नहीं होता, वे ज्ञान कुज्ञान या मिथ्याज्ञान कहे जाते हैं। मिथ्याज्ञान कुमति, कुश्रुत और कुअवधि के भेद से तीन प्रकार के हैं। भव्य जीवों को चाहिये कि वे सम्यग्ज्ञान का आश्रय लें और मिथ्याज्ञान का परिहार करें।

सम्यक्चारित्र : सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान का आत्ममात्र से एकीभूतत्व है, पर सम्यक्चारित्र आत्मा के अतिरिक्त बाह्याचार से भी सम्बन्धित है। अतः आचार्यों ने इसे दो विभागों में विभक्त किया है—एक अन्तरंग और दूसरा बाह्य। जैसे अहिंसा, सत्य आदि रूप परिणाम अन्तर के भाव हैं और तद्रूप मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया उसके बाह्य फलित परिणाम हैं; अतः चारित्र में जीव को द्विधा यत्नाचार करना पड़ता है। जैन वाङमय में यद्यपि सम्यग्दर्शन को प्रधानता दी गई है तथापि बल चारित्र पर दिया गया है। जहाँ सम्यग्दर्शन की उपलब्धि स्वाधीनता से परे है, वहाँ चारित्र यत्न-साध्य है। आचार्यों ने चारित्र का लक्षण इस प्रकार किया है—

1. 'निष्कलंकं निराबाधं सानंदं स्व-स्वभावजं।
वदन्ति योगिनो मोक्षं विपक्षं जन्मसन्ततेः ॥15॥
2. 'त्रिकालगोचरानन्तगुणपर्यायसंयुताः ।
यत्र भावास्फुरन्त्युच्चैस्तज्ज्ञानं ज्ञानिनां मतम् ॥16॥
3. 'मतिश्रुतावधिज्ञानं मनःपर्ययकेवलम्।
तदित्थं सान्वयैर्भेदैः पंचधेति प्रकल्पितम् ॥17॥

जो विशुद्धि का उत्कृष्ट धाम है और योगियों का जीवन है, सर्व प्रकार की पाप-प्रवृत्तियों से दूर रहने का लक्षण है, वह सम्यक्चारित्र है ।[1]

सम्यग्दृष्टि जीवों के सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में चाहे जो और जैसे निमित्त रहे हों, पर सम्यग्दर्शन की दशा सभी स्थानों पर सम रूप है । यह बात सम्यक्चारित्र के विषय में नहीं है । सम्यक्चारित्र आंशिक और विशेष, विशेषतर, विशेषतम व पूर्ण सभी प्रकार का हो सकता है । इसीलिए बाह्यचारित्र में श्रावकाचार, साध्वाचार ऐसे दो प्रमुख भेद करने पड़े हैं । इन आचारों में भी श्रावक की प्रतिमाएँ व पुलाक आदि के भेद (मुनियों में) कर दिये गये हैं । श्रावक एक देश पाप-निवृत्ति करता है, तो मुनि का त्याग सर्वदेश (पूर्ण रीति से) होता है । वास्तव में चारित्र का उद्देश्य संवर है, पर व्यवहार में शुभ आस्रव में भी इसका उपयोग आगमोक्त है । इसीलिए श्रावक का जितना चारित्र है, वह अधिकांशतः पुण्यास्रव का कारण है और मुनियों का चारित्र शुभास्रव और संवर दोनों का हेतु है । तप-रूप चारित्र निर्जरा का भी कारण है ।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों से एकदेश विरत होना अणुव्रत है और सर्वदेश विरत होना महाव्रत । नीचे दिये गये व्रतों के लक्षणों का यथायोग्य—श्रावक व मुनियों की दृष्टि से—ज्ञान कर लेना चाहिये ।

पाँच व्रत—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पाँच पाप हैं । इनसे विरत होने को दयालु आचार्यों ने व्रत (एकदेश-त्याग अणुव्रत, सर्वदेश-त्याग महाव्रत) कहा है ।[2]

अहिंसा : जिसमें मन-वचन-काय से त्रस और स्थावर जीवों का घात स्वप्न में भी न हो, उसे अहिंसा महाव्रत नामक प्रथम महाव्रत कहा है ।[3] (हिंसा के एकदेश त्याग को अहिंसा अणुव्रत कहते हैं ।)

सत्य : करुणा से भरे आकुलता-रहित ग्राम्यादि असभ्यता-संबंधी दोषों से रहित, गौरव-सहित और अविरुद्ध-याथातथ्य जैसे-के-तैसे वचन सत्य कहलाते हैं । ऐसे ही वचन की शास्त्रों में प्रशंसा की गई है ।[4]

1. 'यद्विशुद्धेः परं धाम यद्योगिजनजीवितम्
तद्वृत्तं सर्वसावद्य पर्युदासैक लक्षणम् ॥18॥
2. 'हिंसायामनृतेस्तेये मैथुने च परिग्रहे
विरतिर्व्रतमित्युक्तं सर्वसत्त्वानुकम्पकैः ॥19॥
3. वाक्चित्ततनुभिर्यत्र न स्वप्नेऽपि प्रवर्तते ।
चरस्थिरांगिनां घातस्तदाद्यं व्रतमीरितम् ॥20॥
4. 'सूनृतं करुणाक्रान्तविरुद्धमनाकुलम् ।
अग्राम्यं गौरवाश्लिष्टं वचःशास्त्रे प्रशस्यते ॥21॥

अचौर्य : जो पुरुष बुद्धिमान है और संसार-समुद्र से पार जाने की इच्छा रखता है, वह मन-वचन-काय से निःशंकित होकर बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण नहीं करता—अचौर्यव्रत पालन करता है ।[1]

ब्रह्मचर्य : जिसका आलम्बन करके योगिजन परम आत्मतत्त्व को प्राप्त करते हैं, और जिसको धीर-वीर पुरुष ही धारण कर सकते हैं, वह ब्रह्मचर्य व्रत है । (पर-स्त्री व पर-पुरुष के प्रति नियम खण्डित न करना भी ब्रह्मचर्य व्रत है ।[2]

अपरिग्रह (परिग्रह-परिमाण) : बाह्य चेतन-अचेतन रूप दो प्रकार के परिग्रह हैं और अंतरंग में पर-पदार्थों में (चेतना द्वारा) निजबुद्धि होना परिग्रह है। साधुजन पूर्ण परिग्रह के त्यागी होते हैं और गृहस्थ-जन परिग्रह-भोगोपभोग की वस्तुओं का परिमाण करते हैं । इस परिग्रह को मन-वचन -काय से त्याग रखना अपरिग्रह व्रत है ।[3]

मुनियों के पाँच महाव्रत और गृहस्थ श्रावकों के पाँच अणुव्रत होते हैं । गृहस्थों के लिए तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत और भी होते हैं । इस प्रकार गृहस्थों के कुल बारह व्रत होते हैं । इससे पूर्व गृहस्थ को निचली दशा में ही मद्य-माँस-मधु का त्याग भी पाँच अणुव्रतों के साथ जरूरी होता है । ये अष्ट मूलगुण कहलाते हैं । सर्व-साधारण को जुआ, माँस, मदिरा, वेश्या, शिकार, चोरी और पर-स्त्री का पूर्ण रीति से त्याग करना चाहिये । साधुजन गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषह-जय में सावधान रहते हैं, चारित्र में पूर्ण सावधानी रखते हैं । इससे आस्रव का निरोध होता है । "आस्रव निरोधः संवरः' 'स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ।' (तत्त्वार्थ. ९।१-२) । मुनिजन तप भी करते हैं, उससे निर्जरा भी होती है । 'तपसा निर्जरा च ।' —तत्त्वार्थ. ९।३ । जो क्रियाएँ मुनियों के संबंध में ऊपर कही गई हैं, उनका अभ्यास गृहस्थ भी कर सकते हैं । जानकारी के लिए उनका संक्षिप्त स्वरूप कहा जाता है—

गुप्ति : मन-वचन-काय से उत्पन्न पापयुक्त प्रवृत्तियों का प्रतिषेध करनेवाले प्रवर्तन (मन-वचन-काय की क्रियाओं) को रोकना गुप्ति है—'सम्यग्योगनिग्रहोगुप्तिः । —तत्त्वार्थ. मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति ये तीन गुप्तियाँ हैं ।[4]

1. 'यः समीप्सति जन्माब्धेः पारमाक्रमितुं सुधीः ।
स त्रिशुद्धयाति निःशंको नादत्ते कुरुते मतिम् ।।22।।
2. 'विन्दन्ति परमं ब्रह्म यत्समालम्ब्य योगिनः ।
तद्व्रतं ब्रह्मचर्यं स्याद्धीर धौरेय गोचरम् ।।23।।
3. 'बाह्यान्तरभूत भेदेन द्विधा ते स्युः परिग्रहाः ।
चिदचिद्रूपिणो बाह्या अंतरंगास्तु चेतनाः ।।24।।
4. 'वाक्कायचित्तजानेक सावद्यप्रतिषेधकं ।
त्रियोगरोधनं वा स्याद्यत्तद्गुप्तित्रयं मतम् ।।25।।

समिति : संयमी ज्ञानियों ने ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और उत्सर्ग ये पाँच समितियाँ कही हैं। समितियों से यत्नाचार को बल मिलता है और हिंसा का परिहार होकर आत्मशुद्धि का मार्ग प्रशस्त होता है।[1]

दशधर्म : जिनेन्द्र देव ने धर्म दश प्रकार का कहा है। धर्म के अंश-मात्र सेवन से भी व्रती (क्रमशः बढ़ते-बढ़ते) मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ होता है।[2] ये धर्म दश विध हैं : 'क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणिधर्माः।'—तत्त्वार्थ।

क्रोध, मान, माया, लोभ आत्मा के शत्रु हैं। जब तक इनका सद्भाव है आत्मा की शुद्ध अवस्था प्रकाश में नहीं आती, अतः भव्य जीवों को इनका भी परिहार करना चाहिए। ये कषाय कहे जाते हैं क्योंकि ये आत्मा को कसते हैं यानी दुःख देते हैं।

क्रोध : क्रोध रूपी अग्नि जीवों के यम-नियम और इन्द्रिय-शमन भाव रूपी बगीचे को प्रज्वलित होकर भस्म कर देती है।[3]

मान : मानसे भ्रष्ट हुए पुरुष नीच गति के कारणभूत खोटे कर्मों का संचय करते हैं और नीच गति को बांध लेते हैं। कुल, जाति, प्रभुत्व, ज्ञान, बल, ऋद्धि, तप और शरीर संबंधी आठ मद हैं—इनसे बचना चाहिये।[4]

माया : मायाचार (छल-कपट) मोक्ष के मार्ग में रुकावट है, नरकरूपी गृह का प्रवेश-द्वार है, शीलरूपी शालवृक्ष के वन को (जलाने के लिए) अग्नि है, ऐसा जानना चाहिये।[5]

लोभ : पापी नीच प्राणी लोभ से वांछित फलों की प्राप्ति तो कर ही नहीं पाता अपितु उसके जीने के प्रयास भी मृत्युगोचर हो जाते हैं, अर्थात् लोभ से उसकी मृत्यु तक हो जाती है।[6]

1. 'ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्ग संज्ञकाः।
सद्भिः समितयः पंच निर्दिष्टाः संयतात्मभिः॥26॥

2. 'दशलक्ष्मयुतः सोऽयं जिनधर्मः प्रकीर्तितः।
यस्यांशमपि संसेव्य विन्दन्ति यमिनः शिवम्॥27॥

3. 'सत्संयममहारामं यमप्रशमजीवितम्।
देहिनां निर्दहत्येव क्रोधवन्हिः समुत्थितः॥28॥

4. 'कुलजातीश्वरत्वादि मदविध्वस्तबुद्धिभिः।
सद्यः संचीयते कर्म नीचैर्गति निबन्धनम्॥29॥

5. 'अर्गलेवापवर्गस्य पदवीश्वभ्रवेश्मनः।
शीलशालवने वन्हिर्मायेयमवगम्यताम्॥30॥

6. 'नयन्ति विफलं जन्म प्रयासैर्मृत्युगोचरैः।
वराका प्राणिनोऽजस्रं लोभादप्राप्तवांछिताः॥31॥

इन्द्रियविजय : जिन मूढ़ पुरुषों ने इन्द्रियों को वश में नहीं किया और चित्त को नहीं जीता, वे मूढ़ स्वयं ही दोनों लोकों में ठगे गये, वे पथ-भ्रष्ट हैं।[1]

बहिरात्मा : जिस जीव के शरीर आदि पर-पदार्थों में भ्रम से आत्म-बुद्धि हो जाती है, अर्थात् जो बाह्य-अन्य पदार्थों को अपना, या अपने रूप मानता है और आत्म-स्वरूप को उनसे भिन्न नहीं करता वह जीव बहिरात्मा होता है।[2] ऐसे जीव को मुक्ति नहीं मिलती।

अन्तरात्मा : जिसके आत्मा में ही आत्मा का निश्चय होता है और जो बाह्य भावों का त्याग कर देते हैं वह अन्तरात्मा है। अन्तरात्मा जीव भ्रमरूपी अंधेरे को दूर करने को सूर्य के समान हैं।[3]

परमात्मा : कर्म के लेप से रहित, शरीर-रहित, शुद्ध, सिद्धस्वरूप, अविनाशी, सुखरूप, निर्विकल्प परमात्मा का स्वरूप है।[4] सिद्ध (मुक्त) जीव निकल परमात्मा और अरहंत सकल परमात्मा कहलाते हैं।

उक्त तीनों प्रकार की आत्म-दृष्टियों में परमात्म-दृष्टि उत्तम, अन्तरात्म दृष्टि मध्यम और बहिरात्म दृष्टि अधम है। अतः मुमुक्षु जीवों को अन्तरात्मा होकर परमात्मा बनने का उद्यम करना चाहिये। कहा भी है—

बहिरातमता हेय जान, तजि, अन्तर आतम हूजे।
परमातम को ध्याय निरंतर, जो निज आतम पूजे।।

—दौलतराम।

परमात्मपद 'स्व' में ही है और वह स्वावलम्बन से ही प्राप्त हो सकता है, निखर सकता है। पर-द्रव्य के आश्रय में होना अथवा 'पर' को 'स्व' में आश्रय देना, दीर्घ संसार का कारण है। ऐसा विचार कर मोक्षार्थियों को समस्त पर-द्रव्यों और उनकी पर्याय कल्पनाओं से रहित होकर अपनी आत्मा का निश्चय करना चाहिये। यथा—

1. 'इन्द्रियाणि न गुप्तानि नाभ्यस्तश्चित्तनिर्जयः।
   स्वमेववंचितंमूढैर्लोकद्वयपथच्युतैः ।।32।।
2. 'आत्मबुद्धिः शरीरादौ यस्यस्यादात्मविभ्रमात्।
   बहिरात्मा स विज्ञेयो मोहनिद्रास्तचेतनः ।।।3
3. 'बहिर्भावानतिक्रम्य यस्यात्मन्यात्मनिश्चयः।
   सोऽन्तरात्मा मतस्तज्ञैर्विभ्रमध्वान्तभास्करैः ।।34।।
4. 'निर्लेपो निष्कलः शुद्धो निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः।
   निर्विकल्पश्चशुद्धात्मा परमात्मेति वर्णित ।।35।।

'हे प्राणी, तू काम-भोगों से विराम ले। शरीर में आसक्ति छोड़। समताभाव को धारण कर समताभाव केवलज्ञान-लक्ष्मी का स्थान है।[1] हे जीव तू द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन कर, जिससे तुझे वास्तविकता का बोध हो।

अनित्य भावना : पुत्र-स्त्री-धन और बन्धु चले जाते हैं और जो हैं वे भी चले जाएँगे। शरीर आदि भी चले जाने वाले हैं, फिर तू इनके लिए वृथा खेद क्यों करता है ?[2] जीवों की आयु अंजुली के जल के समान क्षण-क्षण क्षीण हो रही है और यौवन कमलिनी के पत्ते पर पड़ी बूँद के समान तत्काल ढलक जाता है।[3]

अशरण भावना : जब यह काल जीवों के विरुद्ध होता है; तब हाथी, घोड़े, रथ, सेना, औषधि और मंत्र सब व्यर्थ हो जाते हैं।[4] मृत्यु से बचाने वाला—शरण देनेवाला कोई दूसरा नहीं है।

संसार भावना : चार गति रूप महान् भंवरवाले तथा दुःख रूप वडवानल से प्रज्वलित इस संसार-समुद्र में जगत् के दीन-अनाथ प्राणी निरंतर भ्रमण करते रहते हैं।[5] 'संसरणं संसारः।' —तत्त्वार्थ.।

एकत्व भावना : यह जीव मित्र-स्त्री, पुत्र आदि के लिए नाना कर्म करता है लेकिन उसका फल अकेला ही भोगता है और नरकादि में अकेला ही जाता है।[6]

अन्यत्व भावना : इस जगत् में जो जड़-चेतन पदार्थ हैं और प्राणी से संबंध रूप दिखते हैं, वे सब सर्वत्र अपने (आत्मा के) स्वरूप से विलक्षण हैं।[7]

अशुचि भावना : यह शरीर रुधिर-माँस से व्याप्त है। हाड़ों का पंजर है। नसों से बँधा हुआ दुर्गन्ध-युक्त है। तू इस शरीर की प्रशंसा कैसे और क्यों कर रहा है ?[8]

1. 'विरज्यकाम भोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम्।
   ममत्वं भज सर्वज्ञ ज्ञानलक्ष्मी कुलास्पदम् ।।36।।
2. 'अवश्यं यान्ति यास्यंति पुत्रस्त्रीधनबांधवाः।
   शरीराणि तदेतेषां कृते किं खिद्यते वृथा ।37।।
3. 'गलत्यवायुरव्यग्रं हस्तन्यस्तांबुवत्क्षणे।
   नलिनीदल संक्रान्तं प्रालेयमिव यौवनम् ।।38।।
4. 'गजाश्वरथसैन्यानि मंत्रौषधबलानि च।
   व्यर्थीभवन्ति सर्वाणि विपक्षे देहिनां यमे ।।39।।
5. 'चतुर्गतिमहावर्ते दुःखवाडवदीपिते।
   भ्रमंति भविनोऽजस्रं वराका जन्मसागरे ।।40।।
6. 'मित्रपुत्रकलत्रादिकृते कर्मकरोत्ययम्।
   यत्तस्यफलमेकाकी भुक्तेश्वभ्रादिषु स्वयम् ।।41।।
7. 'ये ये संबंधमायाताः पदार्थाश्चेतनेतराः।
   ते ते सर्वेऽपि सर्वत्र स्व-स्वरूपाद्विलक्षणाः।।42।।
8. 'असृग्मांसवसाकीर्णं शीर्णं कीकसपंजरं।
   शिरानद्धं च दुर्गंधं क्व शरीरं प्रशस्यते ।।43।।

आस्रव भावना : जैसे समुद्र के मध्य स्थित जहाज में छिद्रों द्वारा जल आता है वैसे योगों द्वारा इस जीव के शुभ-अशुभ कर्मों का आस्रव होता है ।[1]

संवर भावना : जिस समय विचार-समूह को छोड़कर मन अपने आत्मस्वरूप में निश्चल हो जाता है, उसी काल मुनि के परम संवर होता है ।[2]

निर्जरा भावना : संयमी मुनि वैराग्य-पदवी को प्राप्त होकर जैसे-जैसे तप करते हैं, वैसे-वैसे वे दुर्जय कर्मों का क्षय करते हैं ।[3]

धर्म भावना : जिसके द्वारा जगत् पवित्र किया जाता है और जगत् का उद्धार होता है, जो दया से आर्द्र है, उस धर्मरूपी कल्पवृक्ष को मेरा नमस्कार हो ।[4]

लोक भावना : लोक स्वयं-सिद्ध अनादि है, यह अनश्वर है । किसी का वनाया हुआ भी नहीं है । इसमें जीवादि पदार्थ भी निरन्तर अनादि-अनिधन हैं ।[5]

बोधिदुर्लभ भावना : ज्ञानरूपी-रत्न पुरुष को पुनः-पुनः प्राप्त होना उसी प्रकार से कठिन है, जिस प्रकार समुद्र में हाथ से गिरा हुआ महामूल्य रत्न प्राप्त होना कठिन है ।[6]

आत्म-शक्ति की अपेक्षा सव जीव समान हैं, अतः 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।' का सिद्धान्त अपनाना चाहिये । कर्माधीन होने के कारण जीवों में जो क्लेश और कषायादि दृष्टिगोचर होते हैं, वे वैभाविक परिणतियाँ हैं । वैभाविकता मिटने पर सभी स्वभाव में आ सकते हैं और परमात्मपद—मोक्ष तक पा सकते हैं । जीवों का कर्तव्य है कि वे संसार के प्राणि-मात्र के प्रति मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भाव का आश्रय करें । सामायिक पाठ में भी इन्हीं भावनाओं पर वल दिया गया है । 'सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं ! —' मैत्रीभाव जगत् में मेरा सव जीवों से नित्य रहे ।' [7]

---

1. 'वार्धेरन्तः समादत्ते यानपात्रं यथाजलम् ।
छिद्रैर्जीवस्तथाकर्मयोगरन्ध्रैः शुभाशुभैः ॥44॥
2. 'विहायकल्पनाजालं स्वरूपे निश्चलं मनः ।
यद ।धत्ते तदैव स्यान्मुनैः परम संवरः ॥45॥
3. 'निर्वेद पदवीं प्राप्य तपस्यति यथा यथा ।
यमी क्षपति कर्माणि दुर्जयानि तथा तथा ॥46॥
4. 'पवित्रीक्रियते येन येनैवोद्ध्रियते जगत् ।
नमस्तस्मै दयार्द्राय धर्मकल्पांघ्रिपाय वै ॥47॥
5. 'अनादिनिधनो लोको स्वयंसिद्धोऽप्यनश्वरः ।
अनीश्वरोऽपि जीवादि पदार्थैः संभृतो भृशम् ॥48॥
6. 'दुष्प्राप्यं पुनः पुंसां बोधिरत्नं भवार्णवे ।
हस्तादभ्रष्टं यथारत्नं महामूल्यं महार्णवे ॥49॥
7. मेरी भावना : जुगलकिशोर मख्त्यार ।

मैत्री-भावना : सूक्ष्म-बादर, त्रस-स्थावर जीव जिन सुख-दुःखादि अवस्थाओं में हैं और नाना प्रकार की ऊँच-नीच योनियों में हैं, उनमें महत्त्वपूर्ण समीचीन भावना रखना 'मैत्री-भावना' है ।[1]

प्रमोद-भावना : तप-श्रुत, यम-नियम से युक्त ज्ञानचाक्षुष; इन्द्रिय, मन और कषायविजयी, तत्त्वाभ्यास-पटु और चारित्र से पूरित आत्माओं (पुरुषों) को देख कर हर्षित होना 'प्रमोद-भावना' है ।[2]

कारुण्य-भावना : जो जीव दीनता से, शोक-भय--रोगादिक की पीड़ा से पीड़ित हों तथा वध-बंधन--सहित हों, अथवा जीवन की वांछा रखते हों, रक्षा की याचना करते हों । क्षुधा-तृषा, खेद, शीत, उष्ण से पीड़ित हों, निर्दयी जीवों द्वारा पीड़ित हों, मरण के भय को प्राप्त हों ऐसे जीवों को देखने-सुनने से उनके दुःख दूर करने के उपाय की बुद्धि, चिन्तवन 'करुणा-भावना' है ।[3]

मध्यस्थ भावना : क्रोधी, निर्दयी, क्रूरकर्मी, मधु-मांस-मद्यसेवी , व्यभिचारी, अत्यन्त पापी, देव, शास्त्र, गुरु के निन्दक, आत्मप्रशंसक और नास्तिकों में उपेक्षाभाव अर्थात् उदासीनता रखना 'मध्यस्थ भावना' है ।[4]

भव्य जीवों को चाहिये कि यदि श्रावक श्रेणी में हैं तो नित्यप्रति अपने दैनिक षट्कर्मों का ध्यान रखें और यथायोग्य रीति से उन्हें पूरा करें, यथा--'देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः । दानं चैव गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने-दिने ।।' आत्मस्थ होने के लिए जिनदेव ने ध्यान का विधान किया है, सो ध्यान चार प्रकार हैं--उनमें

---

[1] क्षुद्रेतर विकल्पेषु चरस्थिरशरीरिषु ।
सुखदुःखाद्यवस्थासु संसृतेषु यथायथम् ।।50।।]
'नानायोनिगतेष्वेषु समत्वेनाविराधिका ।
साध्वीमहत्त्वमापन्नामतिर्मैत्रीति पठ्यते ।।51।।

[2] 'तपः श्रुतयमोद्युक्तचेतसां ज्ञानचक्षुषाम् ।
विजिताक्षकषायाणां स्वतत्त्वाभ्यास शालिनाम् ।।52।।
'जगत्त्रयचमत्कारिचरणाधिष्ठितात्मनाम् ।
तद्गुणेषु प्रमोदो यः सद्भिः सामुदिता मता ।।53।।

[3] 'दैन्यशोकसमुत्त्रासे रोगपीडार्दितात्मसु ।
बधबन्धनरुद्धेषु याचमानेषु जीवितम् ।।54।।
'क्षुत्तृट्श्रमाभिभूतेषु शीताद्यैर्व्यथितेषु च ।
अविरुद्धेषु निस्त्रिंशैर्यात्यमानेषु निर्दयम् ।।55।।
मरणार्त्तेषु जीवेषु यत्प्रतीकार वांछया ।
अनुग्रहमतिः सेयं करुणेति प्रकीर्तिता ।।56।।

[4] 'क्रोधविद्धेषु सत्त्वेषु निस्त्रिंशक्रूरकर्मसु ।
मधुमांससुरान्यस्त्रीलुब्धेष्वत्यंतपापिषु ।।57।।
'देवागमयतिव्रातनिन्दकेष्वात्मशंसिषु ।
नास्तिकेषु च माध्यस्थ्यं यत्सोपेक्षा प्रकीर्तिता ।।58।।

धमध्यान उत्तम और शुक्ल-परमशुक्ल उत्तमोत्तम है। उत्तमोत्तम ध्यान मोक्ष का कारण है और यह अन्तर्मुहूर्त काल मात्र होता है। धर्म-ध्यान प्रतिक्षण किया जा सकता है। इन ध्यानों को परमेष्ठी मंत्रों के माध्यम से भी किया जा सकता है; पर इनमें स्थान तथा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की परिमार्जना कर लेना चाहिये। ध्यान के लिए ऐसा स्थान उत्तम होता है, जहाँ रागादि दोष निरन्तर कम होते रहें; क्योंकि ध्यान में स्थान की भी विशेषता होती है[1]। जिस-जिस आसन से सुखरूप बैठकर (स्थिर होकर) अपना मन निश्चल रह सके, उसी को ग्रहण करना चाहिये।[2]

तीर्थंकर महावीर की देशना में तो केवलज्ञान की झलक रही उसका वर्णन तो श्रुतकेवली भी पूर्ण न कर सके। कुल मिलाकर देशना का तात्पर्य (कर्तव्य के प्रति) इतना ही था कि जिस भाँति भी रागादिक की मन्दता हो, आत्मा स्वाश्रित हो, किसी को बाधा न पहुँचे इस प्रकार उद्योग करते रहना चाहिये। उद्यम से जीव, यदि वह भव्य है तो, कभी-न-कभी मुक्ति को अवश्य प्राप्त करेगा; कहा भी है—

> 'हे आत्मन्, तू आत्मप्रयोजन का आश्रय कर, मोहरूपी वन को छोड़। वैराग्य का चिन्तवन कर। निश्चय ही शरीर और आत्मा के भेद को विचार। धर्मध्यान-रूपी अमृत-समुद्र के मध्य स्नान करके (क्रमशः) मुक्ति-सुख को देख।[3]

गौतम गणधर ने इसी प्रकार की और भी बहुत-सी विवेचनाओं को किया, उन सबका गूंथना श्रुतकेवली के वश की ही बात है। हाँ, इतना अवश्य है कि हम तो उसके प्रति सद्भावना ही रख सकते हैं। श्री शुभचन्द्राचार्य के शब्दों में—

> 'सर्वज्ञ वीतराग प्रभु का शासन प्रशान्त, अतिगम्भीर संपूर्ण ज्ञान का भण्डार और भव्यजीवों को मात्र आधार है। यह सर्वज्ञदेव का शासन सदा-सदा अमर रहे, जयवन्त हो।'[4]

दिव्य देशना के बाद तीर्थंकर वर्धमान महावीर ध्यानस्थ हो गये और अघाति-कर्मों के क्षपण की ओर बढ़े। उनका ध्यान परमशुक्ल ध्यान था, जिसके कारण वे

---

1. 'यत्र रागादयो दोषा अजस्रं यान्ति लाघवम्।
तत्रैव वसतिः साध्वी ध्यानकाले विशेषतः।।।59।।
2. 'येन येन सुखासीना विदध्युर्निश्चलं मनः।
तत्तदेव विधेयं स्यान्मुनिभिर्बन्धुरासनम् ।।60।।
3. 'आत्मार्थं श्रय मुंच मोहगहनं मित्रं विवेकं कुरु।
वैराग्यं भज भावयस्वनियतं भेदं शरीरात्मनो।।
उत्तमध्यानसुधासमुद्रकुहरे कृत्वावगाहं परं।
पश्यन्नन्तसुखस्वभावकलितं मुक्तेर्मुखाम्भोरुहम् ।।61।।
4. 'आशीर्वादात्मकमंगल—प्रशांतमतिगम्भीरं विश्वविद्याकुलगृहम्।
भव्यैक शरणं जीयाच्छ्रीमत्सर्वज्ञशासनम् ।।62।। —शुभचन्द्राचार्य

(टिप्पणी—62 श्लोकों में दी गई देशनारेखा का नित्य प्रति पाठ करना चाहिये।)

सिद्ध बन सके। उन्होंने मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग स्व-सहज स्वाभाविक रीति से अपनाया।

मोक्ष : अव्याबाध सुख

'मुक्ति' और 'मोक्ष' शब्द धर्म-साहित्य के पारिभाषिक शब्द हैं। ये शब्द धर्म-शास्त्रों से ही प्रसिद्धि में आये हैं। कई दर्शनों में यद्यपि इनके अन्य पर्याय-वाची शब्द 'निर्वाण' आदि का भी उल्लेख है और कई दर्शनकारों ने इसे 'वैकुण्ठधाम' के नाम से भी संबोधित किया है, तथापि वे इसके मुख्यार्थ तक पहुँचने में असमर्थ रहे हैं। मुक्ति के स्वरूप में उन्हें भ्रम भी रहा है। जैसे-जैसे हम विभिन्न दर्शनकारों के अभिमतों पर विचार करते हैं, उनमें तीखा अन्तर्विरोध दिखायी देता है। मोक्ष के निर्दोष स्वरूप के संबंध में यहाँ आचार्य पूज्यपाद के अभिमत का संक्षेप में उल्लेख किया जाता है। मोक्ष के स्वरूप के विषय में उनका कथन है कि—

'निरवशेषनिराकृतकर्म-मल-कलंकस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविक-
ज्ञानादिगुणमव्याबाधसुखमात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्ष :।' —सर्वार्थसिद्धि:।

(जब आत्मा कर्ममल-कलंक और शरीर को अपने से सर्वथा जुदा कर देता है, तब उसके जो अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादि गुणरूप और अव्याबाध सुखरूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है, उसे मोक्ष कहते हैं।

अन्य दर्शन : परस्पर-विरोध

आचार्य की दृष्टि से मोक्ष का यह स्वरूप है, परन्तु मोक्ष के अत्यन्त परोक्ष होने से बहुत से लोग इसकी अनेक प्रकार कल्पनाएँ करते हैं, जैसे सांख्य, पुरुष का स्वरूप चैतन्य मानते हैं, परन्तु वे उस चैतन्य को ज्ञेय के ज्ञान से रहित मानते हैं, जो शून्य-ज्ञानत्व अथवा असर्वज्ञत्व की पुष्टि मात्र है और निराकार होने से उनका अस्तित्वमात्र, नास्तित्व का परिचायक है।[1] वैशेषिक पुरुष की गुण-रहित अवस्था, अर्थात् बुद्धि (ज्ञान) आदि के उच्छेद हो जाने को मोक्ष मानते हैं, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि असाधारण लक्षण से द्रव्य का कभी उच्छेद मानना वस्तु की सत्ता का सर्वथा लोप करना है।[2] ऐसे ही क्षणिक वादी बौद्धमतावलम्बी जीव का सर्वथा नाश होना मोक्ष मानते हैं, जो असत् को सत् अथवा सत् को असत् मानने जैसा है।[3]

1. चैतन्यं पुरुषस्यस्वरूपं, तच्चज्ञेयाकारपरिच्छेद पराङ्मुखमिति। तत्सदप्यसदेवनिराकारत्वात्।'
2. बुद्धयादिवैशेषिकगुणोच्छेदपुरुषस्यमोक्ष इति। तदपि परिकल्पनमसदेव विशेषलक्षण शून्यस्यावस्तुत्वात्।
3. प्रदीप निर्वाणकल्पनमात्मनिर्वाणं इति च। तस्य खरविषाणवत् कल्पना तैरेवाहत्य निरूपिता।
—(सर्वार्थसिद्धि; पूज्यपाद टीका, सूत्रोत्थानिका 1)

भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
एवं सदो विणासो असदो जीवस्सणत्थि उप्पादो॥ —पंचास्तिकाय 15.

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
यत्तु नास्ति स्वभावेन कः क्लेशस्तस्य मार्जने॥ —वाल्मीकि, 3।7।38

मोक्ष यानी छुटकारा, सत्ता-लोप नहीं

मोक्ष या मुक्ति का अर्थ छूटना है, नष्ट होना या सत्ता-लोप नहीं है। निर्वाण का भाव भी ऐसा ही है। आजकल तो निर्वाण का अर्थ साधारण पुरुष की मृत्यु होने से भी लिया जाने लगा है, जो सर्वथा अनुचित है। वास्तव में भारत के प्राचीन दर्शनों में दो विरुद्ध कोटि के पदार्थों को स्वीकार किया है : (१) चेतन (२) अचेतन। चेतन का रूपान्तर से प्रभावित रहना 'संसार' और विभाव से छुटकारा 'मोक्ष' है। ऐसा मानने से सत् और असत्, चेतन और अचेतन दोनों के स्वभाव या सत्ता का व्याघात नहीं होता। गीता में भी इसी अस्तित्वाभाव और नास्त्यनुत्पाद के सिद्धान्त की पुष्टि की गई है।[1] और जैन-दर्शन ने इसे आद्यन्त निर्दोष रखा है, कहा भी है—

'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।

—तत्त्वार्थसूत्र, १०।२

(बन्ध के कारणों का अभाव और पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा होने से इस जीव का समस्त कर्मों से छुटकारा हो जाना मोक्ष है।)

जिस प्रकार अनादि से खदान में पड़ा सुवर्ण मिट्टी आदि के कारण अपनी शुद्ध पर्याय को नहीं पाता और अग्नि आदि के संस्कारों से उसका शुद्ध रूप निखार को प्राप्त होता है, उसी प्रकार आत्मा भी कर्ममल के दूर होने पर शुद्ध ज्ञानादि अवस्थाओं में प्रकट हो जाता है। आत्मा की ऐसी अवस्था को उसका 'मोक्ष' कहा जाता है। 'मोक्ष' या 'मुक्ति' का अर्थ छूटना है। निर्वाण का भाव हमें पूर्ण अभाव में न लेकर लोकभाषा में 'कर्मरूपी बाणों से रहित' अर्थ में लेना चाहिये, अर्थात् 'निर्गताः बाणाः यस्मात् तत्।' जिस प्रकार बाण शरीर को पीड़ा देते हैं, उसी प्रकार कर्म भी आत्मा को पीड़ा देने के कारण बाण ही हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से तो निर्वाण का अर्थ मुक्त-मुक्ति-मोक्ष, संसार-परिभ्रमण से विराम और शुद्ध अवस्था में अवस्थान ही है—अस्तित्व का लोप नहीं। इस स्थिति में पहुँचने के बाद किसी का संसार में आना नहीं होता।

प्रक्रिया : मोक्षोपलब्धि की

जैन दर्शनकारों ने सात तत्त्व माने हैं : (१) जीव, (२) अजीव, (३) आस्रव, (४) बन्ध, (५) संवर, (६) निर्जरा, (७) मोक्ष।[2] वे मानते हैं कि जीव से अजीव का अनादि सम्बन्ध है और इस संबंध में प्रारम्भ के छह तत्त्वों का घटन निरन्तर होता

---

1. 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः॥ —भगवद्गीता, 2।16
2. 'जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्। —तत्त्वार्थसूत्र 1।4

रहता है। जिस काल जीव का इस घटन से छुटकारा हो जाता है, वह अपने शुद्ध-परमशुद्ध स्वभाव को प्राप्त कर लेता है और इसे जीव की मोक्ष या मुक्त अवस्था कहते हैं। उक्त प्रक्रिया को दृष्टान्त के द्वारा इस प्रकार जाना जा सकता है। मान लीजिये, एक नदी में नाव पड़ी है और उस नाव में एक छिद्र है, उस छिद्र से नाव में पानी प्रविष्ट होता है और नाव में इकट्ठा होता रहता है। मल्लाह इस पानी को निकालता भी जाता है, पर छिद्र के वन्द न होने से नाव में पानी का आना सर्वथा रुद्ध नहीं होता। इसका फल यह होता है कि नाव अपनी पूर्व अवस्था में ही रहती है–जितना पानी उसमें से निकलता है, उतना पानी उसमें और आ जाता है। जब नाविक छिद्र को वन्द कर देता है और पूर्व-संचित पानी को निकालता है तव नाव का सारा पानी निकल जाता है और नाव पूरी तरह जल के ऊपर आ जाती है। उसे आगत और अनागत जल से सर्वकाल के लिए मुक्ति मिल जाती है।

ऊर्ध्वंग, स्वभावत :

ठीक इसी प्रकार जीव अनादि काल से परम्परागत चले आये मोह-राग-द्वेषादि के कारण नवीन कर्मों को संचित करता है और यथासमय उन्हें दूर भी करता रहता है। आस्रव, वन्ध और निर्जरा की ये क्रियाएँ निरन्तर चलती रहती हैं। इसी क्रिया में जीव का संसार-भ्रमण होता रहता है, परन्तु जब वह मोह को कृश करते हुए ज्ञान के वल से चारित्ररूपी खड्ग से इन कर्मों का सर्वथा क्षय करने में समर्थ होता है, तव इसे मुक्ति मिल जाती है।* और यह जीव स्वभावत: ऊर्ध्व गमन करता है, अर्थात् कर्माभाव के अन्तिम समय में यह स्वाभाविक अवस्था में पहुँच जाता है, क्योंकि जिन कर्मों के कारण यह संसार में भ्रमण करता है, उनके संस्कार इसके ऊपर जाने में पूर्व प्रयोगापेक्षया कारणभूत होते हैं। जैसे कुम्हार (कुम्भकार) चाक को दण्ड के प्रयोग द्वारा घुमाता है और दण्ड हटा लेने के बाद भी चाक घूमने की (गमन-क्रिया) क्रिया जारी रखता है, वैसे जीव भी पूर्व संस्कार-वश समयावधि मात्र गमन करता है; परन्तु इसका गमन ऊर्ध्व दिशा में ही होता है, क्योंकि इसको मल से छुटकारा मिल जाता है और वह हल्का (मात्र स्व-स्वभावरूप) हो जाता है। जैसे मिट्टी से लिपटी हुई तूंबी जल में डालने से जल-तल में रहती है और मिट्टी का लेप नि:शेप होने पर ऊपर को ही गमन करती है, या एरण्ड का बीज पकने पर ऊपर के आवरण के चटकने पर जैसे स्वभाव से ऊपर जाता है, वैसे ही यह जीव कर्म रूपी आवरण के हटने पर स्वभावत: ऊर्ध्व गमन करता है। अथवा जैसे अग्नि स्वभाव से ऊर्ध्वदिशा में अपनी शिखा को धारण करती है–कभी दिशान्तर में नहीं जाती। यदि जाती है तो वह अल्पकाल जबकि वायु आदि अन्य विभाव

*. बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्म विप्रमोक्षो मोक्ष:। —तत्त्वार्थसूत्र 10।1

उसे प्रभावित करें। बाह्य कारणों के बिना तो उसका स्वभाव ऊपर ही जाना है।[1] इस जीव का गमन लोकान्त भाग तक होता है, आगे गति का अभाव है।[2]

इस प्रकार के मुक्तात्मा अपनी परम विशुद्धि के कारण सर्वदा, सदाकाल मुक्त अवस्था में ही परमशुद्ध, निरंजन, निर्विकार रूप में रहते हैं और उनके कर्म-राहित्य होने से समस्त गुण-प्रकाशमान रहते हैं। कहा भी है—

'अट्ठविह-कम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणाकिदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धाः।।

—गोमट्टसार (जीवकाण्ड)

(ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय से रहित, शान्तरूप निरंजन-निर्विकार, नित्य और अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य, सम्यक्त्व, अगुरुलघुत्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व गुण-सहित, तथा कृतकृत्य, लोकाग्रवासी 'सिद्ध' होते हैं।)

परिनिर्वाण : पाँच लघु-अक्षर-काल

तीर्थंकर वर्द्धमान-महावीर ने (जब वे अपनी देशना से निवृत्त हुए और चार अघातिया कर्मों को निःशेष करने में तत्पर हुए) शुक्लध्यान द्वारा पाँच लघुअक्षर प्रमाणकाल में नश्वर-औदारिक शरीर से मुक्ति—सदा-सदाकाल के लिए छुटकारा पाया। उनका परमौदारिक शरीर कपूर की भाँति उड़ गया। शरीर का जो भाग-नखकेश शेष रहा, उसका संस्कार इन्द्रादि देवों ने किया। इन्द्र के मुकुटमणि से निकली अग्नि ने अगर-कपूर, चन्दनादि रचित चिता को क्षण-भर में भस्म कर दिया। यह दिन कार्तिक कृष्ण अमावस्या का था जबकि तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर पावानगर के विविध द्रुममण्डित रम्य उद्यान में कायोत्सर्ग स्थित हुए और उन्होंने स्वाति नक्षत्र में अजर-अमर मोक्ष-पद उपलब्ध किया।[3] दिव्य देशना के पश्चात् तीर्थंकर को केवल दो दिन योगनिरोध करना पड़ा और वे कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थिर रहे। कहा भी है—

---

1. 'पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागति परिणामाच्च।'
   आविद्ध कुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाम्बुवदेरण्डबीजवदग्नि शिखावच्च।'
2. 'धर्मास्तिकायाऽभावात्।'
3. 'पद्मवनदीर्घिकाकुल विविधद्रुमखण्डमण्डितेरम्ये।
   पावानगरोद्यानेव्युत्सर्गेणस्थितः स मुनिः।।
   कार्तिककृष्णस्यान्ते स्वाता वृक्षेनिहत्य कर्मरजः।
   अवशेषं संप्रापद् व्यजरामरमक्षयं सौख्यम्।।
   —निर्वाणभक्ति, 16।17
   'जिनेन्द्र वीरोऽपि विबोध्य संततं समंततो भव्यसमूह संतति।
   प्रपद्य पावानगरीं गरीयसीं मनोहरोद्यान वने तदीयके।।
   सकार्तिकेस्वातिषु कृष्णभूत सुप्रभात संध्यासमये स्वभावतः।
   अघातिकर्माणि निरुद्धयोगको विधूय घातीं धनवद्विबन्धनम्।।
   —हरिवंश पुराण, सर्ग 66

'उसहो चौद्दस-दिवसे दुदिणं वीरेसरस्स सेसाणं ।
मासेण या विणियित्ते जोगादो मुत्ति-संपण्णो ।।
उसहो या वासुपुज्जो णेमी पल्लंक वद्भया सिद्धा ।
काउस्सग्गेण जिणा सेसा मुत्तिं समावण्णा ।।

—तिलोयपण्णत्ति, ४।१२०९-१२१०

(आदि तीर्थंकर वृषभदेव १४ दिन, वीर-वर्द्धमान २ दिन, और शेष तीर्थंकर एक मास के अन्तिम योग द्वारा मुक्ति को प्राप्त हुए। तीर्थंकर ऋषभदेव, वासुपूज्य, नेमिनाथ पर्यंकासन में और शेष जिन-तीर्थंकर कार्योत्सर्ग खड्गासन से मुक्ति को प्राप्त हुए।

जन्म : दो सुमंगलों का

तीर्थंकर को जिस दिन निर्वाण-पद प्राप्त हुआ उस दिन गौतम गणधर को केवलज्ञान का लाभ हुआ। इस प्रकार दो ज्योतियों के प्रकाशित होने के समाचार नगर-देश में विद्युत् की भाँति फैल गये। लोगों के हर्ष का पारावार न रहा। वे झुण्ड-के-झुण्ड दौड़ चले उस ओर, जहाँ दो सुमंगलों ने जन्म—लिया—एक वीर निर्वाण और दूसरा गणधर को केवलज्ञान। उन्होंने एकत्रित होकर आत्म-ज्योति और केवलज्ञान-ज्योति प्रकाशित होने की स्मृति-स्वरूप लौकिक प्रकाशपुंज दीपावली* मनाने का आयोजन किया। जो लोग इस पुण्योत्सव में सम्मिलित होने से वच गये वे घर-घर, डगर-डगर दीपावली मनाकर अपने भाग्य को सराहते रहे। यह प्रथा आज भी दीपावली के रूप में भारत में सर्वत्र प्रचलित है।

समवसरण की मधुस्मृति

दीपावली पर्व आज समस्त भारतवर्ष में मनाया जाता है और इस दिन को बड़ा भाग्यशाली माना जाता है। लोगों में लक्ष्मीपूजन का महत्त्व माना जाता है और इस दिन से पूर्ववर्ती त्रयोदशी को भी 'धनतेरस' नाम से पुकारा जाता है। लोग घरों को तरह-तरह के शोभा-दृश्यों और खिलौनों से सजाते और अमावस्या के दिन लक्ष्मी-पूजन करते हैं। वास्तव में जैन मान्यतानुसार धनतेरस वह पवित्र दिन है जिस दिन तीर्थंकर महावीर वर्द्धमान ने मोक्षरूपी धन याने ध्यान पकड़ा, उन्होंने योग-निरोध किया। लोक परिपाटी में इसे सांसारिक धन का रूपक बनाकर इसकी स्मृति स्थायी रखने के लिए लौकिक धन वर्तन, रुपया-पैसा आदि के संग्रह व नवीनीकरण से जोड़ लिया गया। तीर्थंकर और गौतम गणधर के केवलज्ञान रूपी प्रकाश के प्रतीक दीपक

*. ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रवृद्धया सुरासुरैः दीपितया प्रदीप्तया।
तदास्म पावानगरी समन्ततः प्रदीपिताकाशतला प्रकाशते ।।
ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात् प्रसिद्ध दीपालिकयात्र भारते।
समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वरम् जिनेन्द्रनिर्वाण विभूतिभक्तिभाक् ।।

—हरिवंशपुराण 66

प्रज्वलित होते हैं। आज मिट्टी के विविध खिलौने हाथी-घोड़ा आदि तियँच पशु-पक्षियों एवं मानव-जाति-संबंधी खिलौनों की घरों में सजाने और उनके बीच चारों ओर दीपक प्रज्वलित करने की प्रथा जिन-तीर्थंकर के (दिव्यज्ञान-ज्योति-पूर्ण) समवसरण की मधुर स्मृति है—समवसरण के द्वार सभी जीवों के लिए समान रूप से खुले हुए थे। जैसे तीर्थंकर ने सर्व साधारण में ज्ञान-ज्योति बिखरायीं उनकी दिव्य-देशना से लाख-लाख ज्ञान-नेत्र खुले, वैसे आज भी विश्व को ज्ञान-ज्योति की आवश्यकता है, क्योंकि ज्ञान के बिना कल्याण नहीं होता। यही कारण है कि प्रवचन के अभ्यास, मनन और चिन्तन को शास्त्रों में मुख्य बतलाया गया है। कहा भी है—

'पवयणसारब्भासं परमप्पाझाणकारणं जाण।
कम्मक्खवणणिमित्तं कम्मक्खवणे हि मोक्खसौक्खं हि ।।

—रयणसार-९१

'णाणब्भासविहीणो सपरं तच्चं ण जाणए किं पि।
झाणं तस्स ण होइ दु ताव ण कम्मं खवेइ ण मोक्खो ।।

—रयणसार -९४

'अज्झयणमेव झाणं पंचेंदियणिग्गहं कसायं पि।
तत्तो पंचमकाले पवयणसारब्भासमेव कुज्जा हो ।।

न बीज, न वृक्ष

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मुक्त जीव अपने स्वाभाविक शाश्वत सुख में अनन्तकाल विराजमान रहते हैं और जन्मादि परिभ्रमण के कारणभूत कर्मों के सर्वथा अभाव होने से उनका मुक्ति से पुनरागमन नहीं होता। कहा भी है—'कारणाऽभावे कार्याऽभावः।' जब कारण नहीं होते, तब कार्य भी नहीं होता—'बीजाऽभावे तरोरिव।' जैसे बीज के अभाव में वृक्ष नहीं पैदा हो सकता। तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर भी उस अनन्त सुख में सदा-सदा के लिए विराजमान हो गये।

लोक : अन्तहीन

कई लोगों को ऐसा भ्रम हो जाता है कि यदि संसार के जीव मुक्ति को प्राप्त करते रहें और वहाँ से वापिस न आवें तो किसी समय संसार ही खाली हो जाएगा; इसलिए वे मुक्ति से पुनरावृत्ति मानते हैं, परन्तु वे कार्य-कारण भाव पर दृष्टि नहीं देते। उन्हें सोचना चाहिये कि क्या कभी तुष-हीन शुद्ध चावल बोये जाने पर अंकुर दे सकते हैं? जैसे तुष धान्य के उत्पादन में कारण है वैसे ही संसार परिभ्रमण में कर्म कारण हैं। जब कर्मों का सर्वथा अभाव हो जाता है तब जन्म-मरण रूप संसार भी शुद्धात्मा के नहीं रहता। रही बात—लोक (संसार) के खाली होने की। सो शास्त्रों में कहा है—'अनन्ता वै लोकः।' लोक अनन्त है। अनन्त का स्पष्ट अर्थ है—'न विद्यते अन्तो यस्य तत्' जिसका अन्त न हो। लोक में जैसे, समय है। यह अनन्त

बीत चुका है, बीत रहा है और बीतता ही रहेगा, पर इसका कभी अन्त नहीं हो सकेगा जैसे शून्य में से शून्य या दशमलव में से दशमलव निकालने पर शून्य और दशमलव शेष रहते हैं, वैसे ही अनन्त में से अनन्त जाने पर भी अनन्त ही शेष रहते हैं, अतः संसार की समाप्ति का प्रश्न ही नहीं रहता।

निर्वाण-भूमि 'पावा'

तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर की निर्वाण-भूमि 'पावा' मल्लदेश स्थित है। इनके निर्वाण के समय हस्तिपाल राजा व लिच्छिवी, वज्जी, काशी-कौशल आदि १८ गणराज्यों की उपस्थिति थी। वे पुरुष धन्य हैं जिन्होंने पुण्य-पुरुष के निर्वाण दर्शन किये। उनसे स्पर्शित भूमि ही पवित्र है। काश, हम उस भूमि पर सही तरीके से पहुँचकर, सही भावों में आने का प्रयत्न कर सकें तो हमारा पूर्ण कल्याण हो सकता है :

'त्रासादिदोषाज्झितमुद्धजातिं, गुणान्वितं मौलिमणिं यथैव।
वृत्तात्मकं भावलयाभिरामं कृतक्रियं मूर्ध्नि दधाभि वीरम् ।।



परिशिष्ट १

तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर के पूर्वभव[1]　　(तीर्थंकर वृषभदेव के समय से)

१. मरीच[2], २. ब्रह्मस्वर्ग का देव , ३. जटिल ब्राह्मण, ४. सौधर्म स्वर्ग का देव, ५. पुष्यमित्र ब्राह्मण, ६. सौधर्म स्वर्ग का देव, ७. अग्निसह ब्राह्मण, ८. सनत्कुमार स्वर्ग का देव, ९. अग्निमित्र ब्राह्मण, १०. माहेन्द्र स्वर्ग का देव, ११. भारद्वाज ब्राह्मण, १२. माहेन्द्र स्वर्ग का देव तथा त्रस-स्थावर योनि-संबंधी असंख्यातों भव, १३. स्थावर ब्राह्मण, १४. माहेन्द्र स्वर्ग का देव, १५. विश्वनन्दी, १६. महाशुक्र स्वर्ग का देव,१७. त्रिपृष्ठ नारायण, १८. सप्तम नरक का नारकी, १९. सिंह, २०. प्रथम नरक का नारकी, २१. सिंह, २२. प्रथम स्वर्ग का देव, २३. कनकोज्ज्वल, २४. लान्तव स्वर्ग का देव २५. हरिषेण राजा, २६. महाशुक्र स्वर्ग का देव, २७. प्रियमित्र चक्रवर्ती, २८. सहस्रार स्वर्ग का देव, २९. नन्दराजा (तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध), ३०. अच्युत स्वर्ग का इन्द्र, ३१. तीर्थंकर महावीर वर्द्धमान ।

1. मरीचिर्ब्रह्मकल्पोत्थस्ततोभूज्जटिलद्विजः ।
सुरस्सौधर्मकल्पेषु पुष्यमित्रद्विजस्ततः । सौधर्मजोऽमरस्तस्माद् द्विजन्माग्निसमाह्वयः ॥2॥
सनत्कुमारदेवोऽस्मादग्निमित्राभिदोद्विजः : मरुन्माहेन्द्रकल्पेभूद्भारद्वाजोद्विजान्वये ॥3॥
जातो माहेन्द्र कल्पेषु मानुष्योनततश्च्युतः । नरकेषुत्रसस्थावरेष्वसंख्यातवत्सरान् ॥4॥
भ्रान्त्वाततो विनिर्गत्य स्थावराख्योद्विजोऽभवत् । ततश्चतुर्थकल्पेऽभूद्विश्वनन्दिस्ततश्च्युतः ॥5॥
महाशुक्रे ततोदेवस्त्रिखण्डेशस्त्रिपिष्ठंवाक् । सप्तमे नरके तस्माच्चगजविद्विषः ॥6॥
आदिमे नरके तस्मात्सिहस्सद्धर्मनिश्चलः । ततः सौधर्मकल्पेऽभूत्सिंहकेतुः सुरोत्तमः ॥7॥
कनकोज्ज्वनल नामाभूं ततोविद्याधराधिपः । देवस्सप्तमकल्पेषु हरिषेणस्ततोनृपः ॥8॥
महाशुक्रे ततोदेवः प्रियमित्रोनुचक्रभृत् । ससहस्रारकल्पेभूद्देवस्सूर्यप्रभाह्वयः ॥9॥
राजानंदाभिधस्तस्मात् पुष्पोत्तर विमानजः । अच्युतेन्द्रस्ततश्च्युत्वा वर्धमान जिनेश्वरः ॥10॥

—वर्द्धमान तीर्थंकर पूजा

2. तीर्थंकर वृषभदेव का पौत्र । इसने तीर्थंकर के साथ दीक्षा ली, परन्तु मुनिचर्या की कठोर साधना में असमर्थ होने से उन्मार्गगामी हो गया और संसार-परिभ्रमण का पात्र बना । अन्त में मरीचि का जीव ही तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर बना ।

परिशिष्ट-२

अवतार नहीं, उत्तार

जैन-दर्शन कार्य के होने में कारण को प्रमुख स्थान देता है। कहा भी है—'कारणाऽभावे कार्याऽभावः।' कारण के अभाव में कार्य का भी अभाव होता है। एतावता जन्म-मृत्यु आदि भी कार्य हैं; जो सकारण ही हो सकते हैं। जैसे धान्य (तुष-सहित चावल) को बोने पर और उसके विकासानुकूल साधन जलादि के जुटाने पर धान्य की उत्पत्ति—पौधे का निःसरण होता है। यदि धान्य की उत्पत्ति के कारणभूत तुष को उससे पृथक् कर दिया जाए तो वह उत्पन्न नहीं हो सकता; अथवा जैसे बीज के अभाव में वृक्ष उत्पन्न नहीं होता,* वैसे ही जन्म-क्रिया में कारणभूत कर्मों का अभाव होने से मुक्तात्मा (सर्वथा शुद्ध) जीवों का जन्म नहीं होता। दूसरी बात यह भी विचारणीय है कि क्या धर्म चढ़ाव के लिए है, या उतार के लिए? संसार में जन्म-मरण-रूप अवस्था उतार-'अवतार' है और संसार से ऊपर उठने की अवस्था 'उत्तार' है। अवतार हीन अवस्था का द्योतक है और उत्तार ऊँची अवस्था है। कोषकारों ने 'अवतरणं अवतारः' नीचे आने को अवतार कहा है। जैसा कि लोग मानते हैं—परमात्मा ऊपर से इस लोक में अवतरण करता है, अवतार लेता है।

आत्मा; महात्मा, परमात्मा

जैन मान्यता में सर्वसाधारण जाति की अपेक्षा से आत्माओं के स्वभावों में कोई अन्तर नहीं—विकास की अपेक्षा से उनमें तर-तम भेद को स्थान दिया गया है। जब संसारी कर्म-बन्धन में जकड़ा आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को ग्रहण करता है, तब उसकी इस क्रिया को शरीर से शरीरान्तर होना, अवतरण कहा जाता है। और इसमें मूल कारण जीव के अपने पूर्वकृत कर्म होते हैं। ये क्रिया समस्त संसारी जीवों में यथासमय योग्यतानुसार होती रहती है। यही संसारी जीव जब अपना विकास करता है, महाव्रत आदि जैसे बन्धन शिथिलकारक साधनों की ओर बढ़ता है—वह महात्मा कहलाता है; और महात्मा पद में पूर्ण होने पर 'परम आत्मा' पद पा लेता है। कर्म-बन्धनों से सर्वथा, सदा-सदा के लिये मुक्त हो जाता है। उसके अवतरण (अवतार) का प्रश्न नहीं रहता।

* बीजाभावे तरोरिव। —समन्तभद्राचार्य

चूंकि तीर्थंकर महावीर सर्वकर्म-मुक्त हैं--उनका अवतार संभव नहीं है। उनसे पूर्व जो आत्माएँ परमात्मा-अवस्था—मुक्ति में पहुँच चुके हैं, उनके भी जन्म (अवतार) लेने का प्रश्न नहीं। महावीर अपने पूर्वभवों और महावीर-जीवन में भी सदा ही ऊपर चढ़ने का प्रयत्न करते रहे—वे क्रमशः बढ़ते ही रहे, उनका उत्तार हुआ। यतः—उत्तार का अर्थ भी कोषकारों ने निम्न प्रकार से दिया है—

'उत् (ऊर्ध्वं) तरणं उत्तारः 'घञ्'।'

'Transporting *over उत्तार :।' —Apte's Dictionary.

उक्त अर्थों और भावों के प्रकाश में हम कह सकते हैं कि जैन-दर्शन मुक्त आत्माओं के अवतारवाद में विश्वास नहीं रखता और वह संसारी जीवों के ऊपर उठने यानी मुक्ति-मार्ग में बढ़ने की क्रिया (वास्तविक उद्योग) पर बल देता है।

वह उत्तारवाद को मानता है; अतः महावीर ने अवतार लिया ऐसा कहना भी असंगत है। महावीर के पूर्वभव दर्शाने से भी यही तात्पर्य है कि वे विकास यानी उत्तार की ओर बढ़े। वे मुक्ति से वापिस नहीं आये। वे अवतारी आत्मा नहीं थे।

नित्य और कृतकृत्य

जैन मान्यतानुसार मुक्त जीव अनन्तकाल तक मुक्ति में ही रहते हैं। मुक्त जीव के जैसे अवतार नहीं, वैसे ही उसके मुक्तरूप--सर्वथा शुद्ध (पूर्णशुद्ध) अवस्था प्राप्त करने पर उसे उत्तार की अपेक्षा भी नहीं। अवतार और उत्तार दोनों ही अवस्थाएं संसार से संबंधित हैं—मोक्ष (मुक्ति) से इनका कोई संबंध नहीं। जैनधर्म ने मुक्ति से पुनरावृत्ति का सर्वथा निषेध किया है। मुक्तात्माओं के स्वरूप के वर्णन से भी यह बात सर्वथा सिद्ध होती है। वहाँ णिच्चा (नित्य) और किदकिच्चा (कृतकृत्य) दो गुण ऐसे हैं जो सिद्ध अवस्था के तद्रस्थ रहने पर अच्छा प्रकाश डालते हैं; तथाहि—

'अट्ठविहकम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चाः।
अट्ठगुणा किदकिच्चा, लोयग्गणिवासिणो सिद्धाः॥

—आचार्य नेमिचन्द्र (जीवकाण्ड)

—सिद्धगण (मुक्तजीव) ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित, अनन्तसुखरूप, मल-रहित, नित्य, अट्ठगुण-सहित, कृतकृत्य और लोकाग्रवासी होते हैं। तीर्थंकर महावीर ने भी सिद्ध पद पाया—वे ऊँचे उठ गये। अब उनके आवरण का भी प्रश्न नहीं रहा। वे मुक्त हो गये। 'कल्याणमस्तु जगतः।'

***Transport means 'to carry from one place to another' : Chamber's Compacts English Dictionary : Ed. A. M. Macdonald; 1953; p. 680.**

परिशिष्ट-३

स्याद्वाद : गलत समझा गया

"जैनधर्म के स्याद्वाद सिद्धान्त को जितना गलत समझा गया है उतना अन्य किसी सिद्धान्त को नहीं। यहाँ तक कि शंकराचार्य भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं। उन्होंने भी इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय किया। यह बात अल्पज्ञ पुरुष के लिए क्षम्य हो सकती थी, किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मैं भारत के इस महान् विद्वान् के लिए तो अक्षम्य ही कहूँगा, यद्यपि मैं इस महर्षि को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस धर्म के दर्शनशास्त्र के मूल ग्रन्थों के अध्ययन करने की परवाह नहीं की।"

—(फणिभूषण, भू. पू. अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र-विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी)

स्याद्वाद : अभेद्य दुर्ग

"मैं कहाँ तक कहूँ बड़े-बड़े नामी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में जो जैनमत का खण्डन किया है वह ऐसा किया है जिसे देख-सुन हँसी आती है। स्याद्वाद यह जैनधर्म का एक अभेद्य किला है, उसके अन्दर वादी-प्रतिवादियों के मायामय गोले नहीं प्रवेश कर सकते।

जैनधर्म के सिद्धान्त प्राचीन भारतीय तत्त्वज्ञान और धार्मिक पद्धति के अभ्यासियों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इस स्याद्वाद से सर्व सत्य विचारों का द्वार खुल जाता है।"

—(पं. स्वामी राममिश्र शास्त्री, प्रोफेसर, संस्कृत कालेज, वाराणसी)

स्याद्वाद : गंभीर स्थान

"न्यायशास्त्र का स्थान बहुत ऊँचा है। स्याद्वाद का स्थान बड़ा गम्भीर है। वह वस्तुओं की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों पर अच्छा प्रकाश डालता है।"

—(डा. थामस, प्रधान ग्रन्थपाल, इण्डिया ऑफिस, लन्दन)

अन्धकारों में ही डूबे रहते

"प्राचीन दर्जे के हिन्दू-धर्मावलम्बी बड़े-बड़े शास्त्री तक अब भी नहीं जानते कि जैनियों का स्याद्वाद किस चिड़िया का नाम है। धन्यवाद है जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैण्ड के कुछ विद्यानुरागी विशेषज्ञों को, जिनकी कृपा से इस धर्म के अनुयायियों के कीर्ति-कलाप की खोज की ओर भारतवर्ष के इतर जैनों का ध्यान आकृष्ट हुआ। यदि वे विदेशी विद्वान् जैन-धर्म-ग्रन्थों की आलोचना न करते, उनके प्राचीन लेखकों की महत्ता प्रगट न करते तो हम लोग शायद आज भी पूर्ववत् अज्ञान के अन्धकार में ही डूबते रहते।"

—(आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, भू. पू. सम्पादक 'सरस्वती', प्रयाग)

'मुझे यह बड़ा प्रिय है'

"जिस प्रकार स्याद्वाद को मैं जानता हूँ, उसी प्रकार मैं उसे मानता हूँ। मुझे यह अनेकान्त बड़ा प्रिय है।" –(महात्मा गांधी)

वस्तुस्थिति यही है

"अनेकान्तवाद, या सप्तभंगीन्याय जैन-दर्शन का मुख्य सिद्धान्त है। प्रत्येक पदार्थ के जो सात अन्त या स्वरूप जैन शास्त्रों में कहे गये हैं, उनको ठीक रूप से स्वीकार करने में आपत्ति हो सकती है। कुछ विद्वान् भी सात में कुछ को गौण मानते हैं। साधारण मनुष्य को वह समझने में कठिनाई होती है कि एक ही वस्तु के लिए एक ही समय में 'है' और 'नहीं' दोनों बातें कैसे कही जा सकती हैं, परन्तु कठिनाई के होते हुए भी वस्तु-स्थिति तो ऐसी ही है।" –(डा. सम्पूर्णानन्द)

स्याद्वाद : विश्वदर्शनों में अद्वितीय

"जैनाचार्यों की यह वृत्ति अभिनन्दनीय है कि उन्होंने ईश्वरीय आलोक (Ravelation) के नाम पर अपने उपदेशों में ही सत्य का एकाधिकार नहीं बताया। इसके फलस्वरूप उन्होंने साम्प्रदायिकता और धर्मान्धता के दुर्गुणों को दूर कर दिया। जिसके कारण मानव-इतिहास भयंकर द्वन्द्व और रक्तपात के द्वारा कलंकित हुआ। अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद विश्व के दर्शनों में अद्वितीय है।..........स्याद्वाद सहिष्णुता और क्षमा का प्रतीक है; कारण, वह यह मनता है कि दूसरे व्यक्ति को भी कुछ कहना है। सम्यग्दर्शन और स्याद्वाद के सिद्धान्त औद्योगिक पद्धति द्वारा प्रस्तुत की गई जटिल समस्याओं को सुलझाने में अत्यधिक कार्यकारी होंगे।"

–(डॉ.एस.बी. नियोगी, भू.पू. चीफ जस्टिस, तथा उपकुलपति, नागपुर वि.वि., नागपुर)

मूल में निर्विरोध

"जब से मैंने शंकराचार्य द्वारा जैन सिद्धान्त का खण्डन पढ़ा है तब से मुझे विश्वास हुआ कि इस सिद्धान्त में बहुत कुछ है जिसे वेदान्त के आचार्य ने नहीं समझा। और जो कुछ अब तक जैनधर्म को जान सका हूँ उससे मेरा दृढ़ विश्वास हुआ है कि यदि वे जैन-धर्म को उसके मूल ग्रन्थों से देखने का कष्ट उठाते तो उन्हें जैनधर्म का विरोध करने की कोई बात नहीं मिलती।" –(डा. गंगाप्रसाद झा, प्रयाग विश्वविद्यालय)

स्याद्वाद : निःसंशय

"महावीर के सिद्धान्त में बताये गये स्याद्वाद को कितने ही लोग संशयवाद कहते हैं, इसे मैं नहीं मानता। स्याद्वाद संशयवाद नहीं है, किन्तु वह एक दृष्टि-बिन्दु हमको उपलब्ध करा देता है। विश्व का किस रीति से अवलोकन करना चाहिये यह हमें सिखाता है। यह निश्चय है कि विविध दृष्टि-बिन्दुओं द्वारा निरीक्षण किये बिना कोई भी वस्तु सम्पूर्ण स्वरूप में आ नहीं सकती। स्याद्वाद (जैनधर्म) पर आक्षेप करना अनुचित है।"

–(प्रो. आनन्द शंकर बाबूभाई ध्रुव)

अनेकान्त : अहिंसा-साधना का चरमोत्कर्ष

"इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेकान्त का अनुसंधान भारत की अहिंसा-साधना का चरम उत्कर्ष है और सारा संसार इसे जितनी ही शीघ्र अपनायेगा, विश्व में शान्ति भी उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी।" **–(रामधारीसिंह 'दिनकर'-संस्कृति के चार अध्याय,पृष्ठ-137)**

'सिद्धिरनेकान्तात्'

"सिद्धिः शब्दानां निष्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा भवत्यनेकान्तात्। अस्तित्वनास्तित्व-नित्यत्वानित्यत्व विशेषण विशेषाद्यात्मकत्वात् दृष्टेष्ट प्रमाणविरुद्धादाशास्त्र परिसमाप्तेरित्येषोऽधिकारो वेदितव्यः। वक्ष्यति-सात्मेतादिरिति अनेकान्ताधिकारे सत्येवाद्यन्त व्यपदेशो घटते अन्यथा तद्भावात् किं केन सह गृह्येत् यतः संज्ञा स्यात्।" **–(शब्दार्णव चन्द्रिका, सोमदेवसूरि)**

अनेकान्त : सिद्धि का मर्म

'अनेकान्त से सिद्धि होती है; अर्थात् शब्दों की निष्पत्ति अथवा ज्ञप्ति अनेकान्त से होती है। अस्तित्व-नास्तित्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, विशेषण और विशेष्य आदि अनेकान्तात्मक हैं अतः इष्ट प्रमाण से अविरुद्ध दृष्टिगोचर होने से इस अनेकान्त का अधिकार इस (व्याकरण शास्त्र) की परिसमाप्ति पर्यन्त जानना चाहिये। जैसा कि आगे कहा जाएगा। 'सात्मेतादि'। (सूत्र) जिसका अर्थ है 'इत्संज्ञक के साथ उच्चार्यमाण आदि वर्ण अपने सहित उन, मध्यपतित वर्णाक्षरों का ग्राहक होता है', अर्थात् 'अण्' यह प्रत्याहार है। इसमें 'अ इ उ ण्' सूत्रान्तःस्थ वर्णों का ग्रहण है। प्रथमाक्षर 'अ' और अन्त्य 'ण्' के मध्यवर्ती 'इ-उ' का ग्रहण भी होता है। यह अनेकान्त अधिकार होने पर ही घटित हो सकता है अन्यथा उसके अभाव में किससे किसका ग्रहण किया जाए कि संज्ञा का निर्माण हो।

'सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं
सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं,
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव। **–(आचार्य समन्तभद्र : युक्त्यनुशासन)**

'हे तीर्थंकर महावीर, आपका ही यह धर्मतीर्थ सर्वोदय सर्व अभ्युदयकारी है और गौण-मुख्य की विवक्षा लिये हुए अशेष धर्मवाला है। जो परस्पर अपेक्षा का प्रतिपादन नहीं करता वह सर्वधर्मों से शून्य है; अतः हे भगवन्, आपका यह तीर्थ समस्त आपत्तियों का अन्त करने वाला और किसी के द्वारा खंडनीय नहीं है। **–(अनेकान्त-सप्तभंगी-स्याद्वाद)**



